

DAMAGE BOOK

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180233

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H83.1/N22B Accession No. G.H.257

Author नरेश 1

Title काला-पुत्र तथा अन्य कहानियाँ

This book should be returned on or before the date
last marked below.

ब्रह्मा-पुत्र

और

अन्य कहानियाँ



श्रीनिवेश

कुसुम प्रकाशन

कुसुमपुरी

पटना—३

मूल्य ३)

प्रकाशक :—

कुसुम प्रकाशन
कुसुमपुरी, पटना-३

मुद्रक :—

मोहनलाल बिश्नोई
मोहन प्रेस, कदमकुआँ
पटना—३

आवरण

सुरज नारायण

सजिल्द

मूल्य ३)

प्रथम संस्करण

१९५३

अपनी पत्नी सुमित्रा
को
समर्पित

विषय-सूची

कागज के फूल	..	
शमीम	..	१०
कच्चे धागे	..	१७
सलीमा	..	२४
विभा को एक पत्र	..	२६
एक सहारा	..	३८
परेशानी का फंसला	..	५२
परिचय	..	६५
सूअर की बच्ची	..	७५
लाल आसमान	..	८५
खिलौना समझकर	..	९४
गोश्त और दाने		१५
ब्रह्मा-पुत्र	..	

कागज के फूल

मिस्टर राय भी उसे रानी ही कहते थे ।

मिस्टर राय की आज वर्षगांठ थी । सो उन्होंने रानी से कहा था, “आज जो इधर, शहर में, नए डी० एस० पी० कुछ दिनों से आये हुए हैं, उनकी पत्नी को भी न्योता देना । इसी बहाने कुछ हेल-मेल हमलों का बढ़ जायगा ।”

इसीलिये आज रानी के बड़े-से बंगले पर मोटरों का तांता लगा हुआ था । रानी का बंगला वाकई बंगला है । बहुत बड़ा । दो बीघे का तो सिर्फ अहाता ही है । बंगले में जाने कितने कमरे हैं । मिस्टर राय का एक पूरा सूट, सोने का कमरा, गुसलखाना, ड्राइंग रूम, डाइनिंग हॉल, स्टडी, आफिस, गेस्ट, बिजिटर्स, वेटिंगरूम, आदि, इत्यादि । इतने ही कमरे रानी के भी हैं ।

रानी का ड्राइंग रूम बड़ा सजा-सजाया रहता है । बड़े-बड़े मखमली गद्देदार सोफे और उनके सेट की कुर्सियां । बीच में पर्शियन कार्पेट, कमरे के हर कोने में नकाशी की हुई काश्मीरी अखरोट की छोटी-छोटी पेग टेबुलें । उन पर चांदी के, गंगा-जमुनी के काम किए तश्त, जिनमें कहीं ‘ड्राइ फ्रूट’, कहीं सेब-नाशपाती, और कहीं सदेश-रसगुले । एक ओर एक बड़ा-सा पिआनो । कुर्सियों की बगल-बगल छोटी तिपाइयों पर गुलदस्ते, जिनमें सुन्दर रंग-बिरंगे, सजाये हुए फूल ।

रानी की, डी० एस० पी० की पत्नी, मिसेज चटर्जी, से पहले से ही मुलाकात थी, इसे मिस्टर राय नहीं जान रहे हैं, रानी जानती थी । इसलिये जब मिसेज चटर्जी, यानी रानी की मेनका, ड्राइंग रूम में बड़ी सज-धज के साथ आईं तो रानी ने एक अलसाई मुस्कान के साथ केवल इतना ही कहा—“आओ मेनका, बहुत दिनों के बाद मिलीं !”

“हाँ, रानी । बहुत दिनों के बाद । कहो, कैसी रही ?”

“देख ही रही हो ।” ईषत हास्य से रानी ने कहा ।

मेनका रानी की बांह पकड़ कर खींचती हुई, औरों से अलग, उसे पिआनो के पास ले गई । वहाँ बड़ी दबी आवाज में पूछा, “उफ, तुम तो बहुत मोटी हो गईं । देखती हूँ, शरीर बहुत भारी होता जा रहा है ।”

बदले में जवाब न देकर, रानी सिर्फ मुस्करा पड़ी ।

“कहो, क्या हाल-चाल है ? देखने से तो लगता है, अच्छा ही है ।”

“तो क्या चाहती थीं कि बुरा रहता ?” होठों पर रानी के एक रहस्यमयी मुस्कान, जो शुरू से खिंची थी, अभी भी खेल रही थी ।

“नहीं, मैं ऐसा क्यों चाहती रहती भला ! लेकिन हाँ, इतने दिनों के बाद आज पहले-पहल जो तुम्हें देखा तो विश्वास नहीं हुआ कि तुम ऐसी भी हो जा सकती थीं !”

“कौन-सी आश्चर्यजनक बात पा रही हो तुम मुझ में ?”

“बहुत सारी । पहले तो यही कि तुम शादी-शुदा हो, और पति के नाम पर एक मालदार खम्बीस पाल रखा है !” और मेनका हंस पड़ी ।

दीवार के सहारे जहाँ पिआनो रखा हुआ था, सामने खिड़की थी । खिड़की से बाहर, दो बीघे का अढ़ाता, अपनी सारी खूबसूरती लिये फैला था । अढ़ाते के बाद भी कुछ दूर ऊँचा-नीचा मैदान था, बाद में गंगा का कछार । रानी की आंखें चांदी की एक लकीर-सी गंगा की धारा पर लगी हुई थीं ।

“बच्चे-कच्चे भी हैं ?”

रानी चौंकी, जैसे ध्यान टूटा हो । बोली, “अरे नहीं, क्यों ? कैसे हों बच्चे ? तुम तो जानती ही हो, मैंने एक खम्बीस पाल रखा है !” और वह हंस पड़ी ।

मेनका की आंखें भी चांदी की एक पतली लकीर-सी गंगा पर जा लगीं । कुछ क्षण दोनों चुप रहीं, फिर मेनका बोली—“रानी, तुम बुरा मानो, या न मानो, लेकिन मुझे यह जानकर कभी खुशी नहीं हुई; न उस समय, जब अखबारों में तुम्हारी शादी की खबर पढ़ी थी, आज से ५ साल पहले; न आज, जब कि तुम जीती-जागती, सशरीर, पहाड़-सी, मेरे सामने खड़ी हो ।” जानती हो, हमलोगों के गुप्त संगठन में मेरा तुम्हारे ही ऊपर सबसे अधिक विश्वास था ।” लेकिन...

कागज के फूल

...लेकिन तुम सबसे पहले उस आदर्श से गिर कर संगठन से भाग निकलीं।....”

रानी चुप थी, चुप ही रही। आंखें उसकी बड़ी स्थिर, खिड़की से बाहर जाने क्या देख रही थीं।

मेनका कहती गई — “अमल, हमलोगों का नेता अमलेंदु, उसकी याद है, न ?”

“हाँ”, बड़ी हल्की आवाज में रानी ने बिना हिले-डुले कहा।

“वह अमल, जिसके चरणों पर हम सब बाल हो जाना भाग्य समझते, तुम से प्यार करता था... चौंको नहीं, यह तुम्हारे लिये कोई नई बात नहीं। तुम जानती थीं। लेकिन तुमने क्या चाहा, क्या किया, किसे बरा !... जानती हो, परसों रात को अमल घेर लिया गया था। वह बच कर निकल जाना चाह रहा था, निकल भी जाता लेकिन...”

“लेकिन ?”

“वह गोली का शिकार हुआ।”

रानी घूम कर खड़ी हो चुकी थी। मेनका की आंखें उसकी आंखों से मिलीं। रानी मुस्करा पड़ी।

“अखबारों में यह खबर नहीं आई ?”

“सरकार को डर है, कहीं इस खबर के छपने से उपात और न बढ़ जाय।”

“मैं अभी आई”, कह कर रानी जाने को हुई।

“कहां चलीं ? देखती हो, कमरे में तुम्हारे मिहमान भर गए हैं ?”

“अभी आई।” कहती-कहती रानी ड्राइंग रूम से बाहर निकल आई।...

उसने ड्रेसिंग रूम का दरवाजा बंद कर लिया। भीतर से अच्छी तरह कुंडी लगा ली। आदमकद आइने के सामने जाकर वह खड़ी हो गई। अपनी शक्ल, अपने शरीर की प्रतिच्छाया देखी। उसके होठों पर एक अजीब मुरकान दौड़ गई, खिंच गई, वैसी, जैसे रोने के पहले कभी-कभी होंठ मरोड़ खाने लगते हैं।...

ठीक ही तो, रानी अब वैसी कहां रही ? उस वक्त वह कालेज के फर्स्ट इयर में पढ़ती थी। कितनी दुबली-पतली, छरहरी-सी थी वह। और कितनी गंभीर। अमल ने ही तो कहा था, जितना कम बोल कर काम चलाया जा सके उतना ही अच्छा। बातों के, भेदों के खुलने का, सुराग मिलने का, अंदेशा ही नहीं रहेगा।

तीन

अमल ! गोरा-सा, बड़ी-बड़ी आंखों वाला ! उसके बाल कैसे बिखरे-उलझे रहते, जैसे कभी उनमें कंधी पड़ी ही न हो । उसने खुद कितनी दफा नहीं उसके बालों में स्वयं कंधी की थी, लेकिन वे उलझ ही पड़ते हठीले बालों की लट्टें !...

उसने ड्रेसिंग टेबुल की एक दराज को अपनी पेटीकोट में छिपाई एक ताली से खोला । कागजों के बहुतेरे बडलों से एक तस्वीर निकाली — बड़ी-बड़ी, भावमयी आंखें ! उलझे बाल ! गोरा चेहरा !

तस्वीर मेज पर रखे जाने वाले एक फ्रेम में लगी हुई थी । तस्वीर के एक कोने में लिखा था,

अपनी रानी को,

अमल ।

रानी ने अपने कपड़े एक-एक करके उतार दिये । हां, वह मोटी हुई तो है, शरीर भारी भी हो गया है, लेकिन वह अभी भी तो अमल की है ।... वह आहिस्ता-आहिस्ता अपने शरीर पर हाथ फेरने लगी ।... ओह मेनका, जो तुम जान पातीं ! इस शरीर की एक-एक नस किसी की याद में, किसी से मिलने को आतुर, आज इतने वर्षों से कंसी तनती रही है ! तन-तन कर ही इनने चाहा कि ये अमल तक पहुंच कर, उसके चरणों में झुक कर, अपने को समर्पित कर, मुक्ति पा सकतीं । ... उसकी आंखें डबडबा आईं । उसने अपनी खुली छाती से तस्वीर को चिपटा लिया—अमल, मेरे अमल, तुम मुझे यों छोड़ कर चले गये ! कितना बांध गये तुम मुझे । तुम थे, तो मैं मुक्त थी । जब तुम नहीं हो तो तुम्हारे नहीं होने में ही मेरा बंधन होता है ।...

उस दिन, जब वे सभी बैठे थे, चिन्ता-मग्न, कालू, नम्बर ग्यारह, मेनका, रातुल आदि, तभी तो अमल ने कहा था, “संगठन चलाने के लिए पिस्तौल और राइफल खरीदने को हमें रुकना चाहिए । हम जो लूट कर, डाका डाल कर, रुपये लाने में बेकार का जोखिम मोल लेते हैं, वक्त और मिहनत बर्बाद करते हैं, उससे अच्छा होता कि हमारे की एक अच्छी रकम एक निश्चित समय पर मिलनी रहती । इससे संगठन जोरदार भी होता और काम भी ज्यादा हो पाता ।” सभी चुप थे । रातुल बोला था, “तो कैप्टन, ऐसा इंतजाम हो कैसे ?”

“करने से होगा । हम में से किसी को तो करना ही होगा । हम लोगों को उपाय सोचना होगा । हाथ-पर-हाथ रख कर बैठने से तो कोई दे जायगा नहीं, भाई ।”

चार

कागज के फूल

तभी रानी ने कहा था—“कितना हर महीने होने से काम चलता रहेगा ?”

“कम-से-कम दो हजार रुपये माहवार । फिर बीच-बीच में डकैती और लूट से जो हो । सब मिलाकर हम काम तेजी से चला सकते हैं ।”

कुछ देर उस गुप्त कमरे में सजाटा रहा था । सभी के चेहरे पर चिन्ता की रेखाएं बनी हुई थीं । रानी भी कुछ देर सोचती रही थी । फिर बड़े शांत स्वर में उसने कहा था—“अच्छा, मैं बहुत जल्द ही दो हजार रुपये माहवार का इंतजाम कर दूंगी । मुझे सिर्फ यह बतला दिया जाय कि रुपये कहाँ, और किमके पास, भेजने होंगे ।”

“रानी, तुम !” आंखों में दुलार और आश्चर्य भर कर अमल ने पूछा था, “तुम इतना कर सकोगी ?”

“हां ।” अपनी आवाज को संयत रखते हुए रानी ने कहा था ।

तभी किसी ने आकर खबर दी थी, हमलोगों को तुरत यहां से ‘डिसपर्स’ हो जाना चाहिए । शायद सी० आई० डी० वाले इधर पता लगाने आ रहे हैं ।

“अच्छा, रानी, तो देखो, इंतजाम अगर हो सके तो करना, लेकिन इसकी भनक किसी को न लगे ।...डिसपर्स ।”

और उसी दिन से तो आज तक वह अमल को नहीं देख सकी ।...कैसे देखती ? गुप्त संगठन, जोखम का काम; सभी काम, चाल, गुप्त रखना । वह मिल भी कैसे पाती अमल से ?...

तस्वीर को कलेजे से उसने और चिपका लिया । उसके रोयें खड़े हो आये । भारी, मांसल शरीर में कंपन की हल्की लहरें उठने लगीं । लगा, उसके शरीर में शक्ति एकदम नहीं । आंखें खूब सूखी-सी लगने लगीं, जलने लगीं ।...

आज वह अपने शरीर और मन-प्राण की एक-एक नस, एक-एक तंतु को स्वतंत्र छोड़ देगी, कोई नियंत्रण नहीं रखेगी उन पर वह । वे तनें, और तनें । आज तक जो वह एक रोदा चढ़े धनुष की नाई तनी, नियंत्रित, कठोर होकर रहती आई है, अब और नहीं रहेगी, आज नहीं रहेगी ।...

उसने तस्वीर को और भी कलेजे से चिपकाया । फिर उसे पागलों की तरह चूमना शुरू किया । और तब ड्रेसिंग-टेबुल पर उसे रख कर घुटनों के बल वह उसके सामने बैठ गई, और निर्निमेष अमल की आंखों में अपनी आंखें गड़ा दीं ।...

उस दिन के बाद से वह गुप्त बैठकों में कभी जा तो सकी नहीं । डर था कि कहीं किसी को कोई सुराग मिल न जाय, और समय भी नहीं रहने लगा था । उसके एक-ब-एक बैठकों से गायब हो जाने को और कामरेडों ने क्या समझा था, इसकी भनक उसे मिली थी । उस दिन जब रुपये अमल को भेज रही थी, उसे पता लगा था कि स्वर्णाम ने अमल से कहा था, “कैप्टेन, हम क्या काम करें ? कुछ कर सकेंगे क्या ?”

“क्यों ?”

“देखो न, हमारे इतने बिस्वस्त और सधे हुए कामरेड जब दगा दे बैठते हैं तो हमें कोई उम्मीद भी नहीं, और डर भी है कि हम कभी-न-कभी, किसी दिन, उन्हीं के द्वारा पकड़ा दिये जायेंगे । रानी को ही देखो !”

रानी ने सुना था, अमल ने इसका कोई उत्तर नहीं दिया था ।...

अमल को दो हजार रुपयों का आश्वासन देकर जो वह आई थी उसके दूसरे दिन की ही तो बात है । आज जो उसका पति कहलाता है, मिस्टर राय, जिसे इस बात का ही सन्तोष है कि उसने ‘लव मैरेज’ किया है, अतः, आधुनिक है वह, रोज की तरह कुछ फूलों के गुलदस्ते लिये शाम को उसके घर आया तो आश्चर्यान्वित होकर बोला — “Oh ! what grand luck ! (कितना बड़ा सौभाग्य है !) आज आप मिल गईं ! ...”

उस दिन राय के लिये सारी बात अयाचित और अप्रत्याशित हुई । उसने कहा — “मुझे आज आप सिनेमा नहीं दिखलायेंगे ?”

“हाँ, हाँ, क्यों नहीं !”

छोटे भाई ने भी जाना चाहा था । रानी ने कहा था — “देखो अम्मा, मैं जहाँ-कहीं भी जाऊँगी, क्या यह मेरे साथ जाता रहेगा ?” और कह कर आँखों में मुस्करा पड़ी थी । अम्मा ने उस मुस्कराने का, जो उन्हें चाहिये था, वही अर्थ लिया । उन्होंने भाई को डांट दिया, “तू कल चलना, मेरे साथ ।...”

यों पंद्रह-बीस दिनों तक कोर्टशिप चलती रही थी । उस दिन काफी रात हो गई थी । दस बजे के करीब अपनी बड़ी गाड़ी को लेकर, एक काफी एकांत कोने में जाकर, राय ने गाड़ी रोक दी थी, और तब कुछ चंचल हो पड़ा था । तभी रानी ने कहा था — “धीरज रखो, अभी नहीं ।”

“रानी, कब तक यूँ परीशान करती रहोगी ?”

कागज के फूल

“मैं एक हिन्दू नारी हूँ न, राय बाबू ।”

“तो नारी ही तो हो, और वही तो चाहिए ।”

“एक हिन्दू नारी कम-से-कम मंत्रोच्चार और हवनार्च के बिना अपना शरीर किसी को समर्पण नहीं करती ।”

कुछ देर दोनों चुप थे । उस दिन भी राय शायद आज की तरह ही पिये हुए था । कुछ देर संयत और चुप रह कर उसने कहा था — “अच्छा, तो आज कम-से-कम एक चुम्बन ही तो दो । देखो तो, मेरे ढाँठ किस तरह जल रहे हैं ।”

“अभी वह भी नहीं, राय बाबू !”

“तो कब रानी, कब ?”

“जब तुम्हारा अधिकार मेरे ऊपर हो जायगा ।”

“तो वह भी जल्द ही क्यों न हो !”

और दूसरे दिन दोपहर को ही आकर राय ने कहा था—“रानी, मैंने तय कर लिया है कि पुराने ढंग से शादी तो तुम्हारी माता जी जब चाहें करें, हम तब तक के लिये ‘रजिस्टर्ड मैरेज’ कर लें । मैं अब और नहीं ठहर सकता,” कहते हुए उसने रानी की गोद में रंग-बिरंगे फूलों का एक बड़ा-सा गुच्छा डाल दिया था । उन फूलों से ‘औटो दिलबहार’ की तेज खुशबू आ रही थी ।

दोपहर को ही रजिस्ट्री कराई गई थी, इसकी खबर अम्मा जी को भी दे दी थी उसने, और रात के नौ बजे, अपने उसी बंगले में, अपने सीने के कमरे में, राय ने बहुत-से उस तरह के रंग-बिरंगे फूलों से उसे करीब ढकते हुए कहा था—“अब मेरा घर कितना सुन्दर लगता है । महल रानी के बिना सूना था !

कुछ शीखी की मुस्कान बिखेरते हुए उसने पूछा था, “अच्छा राय, तुम मुझे इतने फूल तो देते रहे, कागज के क्यों दिये ? इनकी खुशबू तो ‘लैवेंडर’ और ‘सैंडों’ की है, अपनी तो नहीं ।”

“रानी, ये बराबर इसी तरह के बने रह सकते हैं । वे मुरझा जाते ।”

“हाँ, इसलिये कि इनमें जान नहीं, उनमें जान होती है ।”

“हाँ-हाँ, और मैं तो इसे ‘सिंबोलिक’ मानता हूँ । इसी तरह मेरे घर की रानी की खूबसूरती भी बराबर बनी रहे !”

और उस रात वह राय को 'ना' कहते हुए भी रोक न सकी। कानूनन उसका अधिकार जो हो चुका था।...

रानी ने एक गहरी सांस ली, और तस्वीर से अपना गाल सटाते हुए बोली—अमल, तुम्हारी रानी ने बहुत कुछ किया, जिसे दुनिया दूसरे अर्थों में लेती है। तुम तो मेरे अन्तर में बैठे हो। बराबर रहे। तुम तो जानते हो न !”...उसके होठों पर दर्द की एक मुस्कान उगती-मिटती रही। “आदर्श के लिये,” तुम्हीं तो कहा करते, “हमें सब कुछ भी न्योछावर कर देना पड़े, धन-दौलत, ऐश-आराम, प्यार-परिवार, तन-मन, कुछ भी, तो भी कोई हानि नहीं ! देश को इसकी आवश्यकता है !”

उस दिन जब वह बकरे के बच्चे की तरह, बिना चिचिआये, राय को सहती रही थी तो सहते-ही-सहते उसने कहा था—“मुनो, तुम मुझे बहुत-बहुत से नोट देना अभी, अच्छा ?”

“बहुत-बहुत से नोट ?”

“हा।”

“क्या करोगी उनका ?”

“तुम बराबर यों मुझ से सवाल करते रहोगे, न ?”

“अरे नहीं, मैंने सोचा, अभी क्या करोगी। यों मेरे पास क्या है रानी जो तुम्हारा कभी नहीं था, और नहीं है अब !”

“मैं—मैं उनके फूल बनाऊंगी !”...

बाहर से खानसामा ने दस्तक दी — “रानी जी, आपके ड्राइंग-रूम में सभी आपको खोज-पूछ रही हैं।...”

ड्राइंग-रूम में उल्लास भरी मुस्कान लिये, रानी एकदम चकमक कपड़ों में सजी जब आई तो मेनका एक बगल की महिला से कह रही थी — “ये फूल कितने सुन्दर हैं। जहर विलायती होंगे !”

तभी उसके पास पहुंची रानी। मेनका आश्चर्य से भरी आंखों से देखती रही—रानी ! तब और अब !

व्यंग भरी हंसी के साथ मेनका ने कहा—“अच्छा ! तो तुम ट्वॉयलेट करने गई थीं, रानी ! क्या आश्चर्य ! पहले कभी सपने में भी मैं सोच सकती थी कि तुम...”

इसी बीच, बगल वाली महिला ने, रानी का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करना

कागज के फूल

चाहते हुए, बड़ी हल्की-फुल्की, प्रशंसात्मक आवाज में कहा — “मिसेज राय, ये जो इतने गुलदस्तों में रंग-बिरंगे, खुशबूदार फूल रखे हैं, सभी विलायती हैं, न ? देशी फूल तो इतने रंग के नहीं होते !”

रानी की आंखें जाने कैसे चमक पड़ीं; उन महिला का हाथ अपने हाथों में लेनी, और उनकी बगल में बैठनी हुई, बड़े स्निग्ध स्वर में, वह बोली “देशी ही हैं बहन, वे कागज के हैं।”

शमीम

दक्षिणा का हाथ कमल की छाती पर पड़ा था। बिखरे बाल कमल की कनपट्टी को छू रहे थे। दक्षिणा सो रही थी।

कमरे की हरी रोशनी में, कमल देख रहा था — दक्षिणा का मुलायम, गोरा हाथ; उसकी लम्बी-पनली उंगलियाँ, उसकी गोल बांह। दक्षिणा के चेहरे पर हल्की-सीठी मुस्कान थी। उसके लाल-लाल ओठ धनुष-में खिंचे थे। दक्षिणा बड़ी निश्चित सो रही थी। हल्की-हल्की सांस में उसकी छाती कमल की बांह में सटती-अलग होती।

कमल निश्चेष्ट पड़ा था। उसकी आँखें रह-रह कर भटक जातीं। पर वह सो नहीं पा रहा था। अभी थोड़ी देर पहले, दक्षिणा जब जगी हुई थी : बरसान के बादल धिर आये थे। पानी जोंरों का नहीं पड़ा, लेकिन हवा तेज थी, और फुहियाँ उड़-उड़ कर खुली खिड़की से आतीं, और दक्षिणा और कमल को सिहरा जातीं। कमल अलसा उठा था। उसने करवट ली थी, और चाहा था कि दक्षिणा को खींच कर छाती से सटा ले। दक्षिणा ने उसकी आँखों का भाव पढ़ा था। वह सिहर गई थी, शर्मा गई थी। कमल ने उसके गाल सहलाये थे, फिर चूम लिया था। दक्षिणा बिखरी-बिखरी-सी पड़ी रही थी। कमल ने धीरे से दक्षिणा के होंठ पर होंठ रख दिया था, और दक्षिणा ने कमल के गले में बांहें डाल कर उसे अपनी ओर खींच लिया था; जैसे आज वह कितना खुल कर कमल को अपने सब कुछ का दान देना चाह रही थी।

हवा अभी भी फुहियों से लदी आ रही थी; परन्तु कमल निश्चेष्ट और शिथिल पड़ा कभी आँखें खोलना, कभी बन्द करना।

कुछ साल गुजर गये होंगे कि कमल एक दिन उसके यहाँ गया था। शमीम

शमीम

का नाम आज इतने दिनों के बाद अनायास ही उसे याद हो आया है। मित्रों की मण्डली में तरह-तरह के लोग होते हैं। शुक्ला ने एक दिन कहा था—कमल, तुम्हें ऐसा गाना सुनवाऊँ कि ताता-थेई हो जाओ तुम !

कमल संगीत से प्रेम रखता है। राग-रागिनियों को समझता है। उसने कहा था — किसी उस्ताद का क्या ?

“बस, उस्तादों के अ-आ-इ-ई में क्या रखा है ? गाना सुनो तो लगे, कोई बौड़ाहा वणों का बड़ी तेजी से पढ़ रहा हो। उसका सुनो तो कहोगे, शुक्ला ने भी कहा था !”

और उसी शुक्ला ने उसे शमीम के यहाँ पहुँचाया था। शमीम गाती थी अच्छा। पहले कमल को दुमरी पसन्द ही नहीं पड़ती थी। शमीम से ही सुनकर वह दुमरी का मजा जान सका था। शमीम के गाने अधिकतर दिहाती हुआ करते थे — “सैयाँ मोरा गइले राम, पुरुबी बनिजिया हे !” और दूसरे भी इसी तरह के।

तो महीनों कमल शमीम के यहाँ जाता और गाना सुनता रहा था। धीरे-धीरे, हाँ, धीरे-धीरे ही तो, शमीम के रूप पर भी कमल की आँखें गयी थीं। शमीम की खूबसूरती बड़े अन्दाज की थी। एकहरी, गेहुँआ रंग, और बड़ी-बड़ी आँखें। यों तो वहनों की खूबसूरती ऐसी होती है, लेकिन शमीम की विशेषता थी उसकी आँखों का भाव, उसके शरीर का भाव। आँखें जैसे मदालस हों, और शरीर बिखरा जा रहा हो, इस तरह की अलमाई-सी उसकी भंगिमा होती थी।

कमल कोई मॉरलिस्ट नहीं, लेकिन उसका ख्याल बराबर रहता कि ये जो इतनी शमीम बाजार में पड़ी हैं, सभी का पेशा है शरीर का विक्रय और धनोपार्जन। ख्याल रहता कि मशीन हों वे, जिनमें चलने-फिरने और बोलने की ताकत भर है। उसके अतिरिक्त उनमें आदमियत हो, इसे कमल नहीं मानता था।

सो उस दिन होस्टल में पड़ा-पड़ा कमल अंगड़ाई लेकर उठ बैठा था। इधर कुछ दिनों से वह अपने को किसी चीज पर केंद्रित नहीं कर पाता था, खोया-खोया-सा रहता था वह। उठ बैठा था, बेग में रुपये लिये थे, और सिढ़ियों को तै करता बाजार में निकल आया था। रात के करीब नौ बजे थे। एक फिटन खड़ी थी। उसपर बैठता हुआ बोला था — शहर चलेंगे !...

और शमीम ने कहा था — ग्यारह बज गये हैं। होस्टल का दरवाजा तो बन्द हो गया होगा, जाओगे कैसे ?

“देखा जायगा ।”

“खाना खा लिया है ?”

“नहीं ।”

शमीम कुछ देर चुप सोचती रही थी, फिर बोली थी — तुम वापस तो नहीं आ जाओगे, न ?

कमल चुप रहा था। शमीम ने कहा था — बोलो, नहीं जाना चाहते, न ?

“सोचा तो नहीं ऐसा कुछ ।” कहकर फिर वह चुप हो पड़ा था।

“अच्छा, तो अब गाना नहीं गाऊँगी। तुम्हारे खाने-पाने का इन्तजाम कर देती हूँ ।” कहकर शमीम अन्दर चली गई थी।

कमल बैठा सिगरेट पीता रहा था। सोचता रहा था — इनमें एक खूबी होती है। कितनी जल्दी ये एकदम परायों को अपना बना लेती हैं ! अभी वह शमीम को किना जान पाया है ? कुल इतना ही तो कि इस शहर में आये उसे चन्द महीने ही हुए हैं; वह अभी सत्रह साल की है; और उसकी अपनी कोई नहीं होते हुए भी उसकी एक मौसी है जो बहुत बूढ़ी है, और गुस्सैल है। शमीम ऊपर के कमरे में सोती है, और मौसी नीचे। लेकिन शमीम तो कमल के विषय में सभी बातें जान गई है। कमल को भी वह पहचान गई है, और इसीलिए शायद वह इतनी आसानी से उसके मन की बात ताड़ सक रही है।...

“चलीं कहां ?”

“क्यों ?” शमीम ने मुस्कराते हुए पूछा था।

“कहां जा रही हो ?”

“मौसी के नजदीक ।”

“मौसी ने खाना खा लिया ?”

“हां, तो ?...”

“तब क्या करने जा रही हो वहां ?”

“अरे ! ...सोऊँगी नहीं क्या ?”

शमीम

“और मेरे पास सोने में क्या हर्ज है ?”

शमीम कुछ देर चुप रही, खड़ी; जैसे कुछ सोच रही हो। फिर बोली—“तुम जिस वक्त ऊपर आ रहे थे, मांसी मिली थी ?”

कमल भिम्कका-सा बोला—“हां।”

और वह शमीम से आंखें मिला कर नहीं देख सक रहा था। उसने सर फेर लिया था।

शमीम कुछ देर बाद धीरे-धीरे, उसके पलंग के पास आयी थी, और बोली थी—“रूठ गये ?”

पर कमल चुप था। शमीम की आंखें कितनी तेज हैं ! उसके सामने जैसे वह एकदम नग्न हो पड़ता हो, भीतर तक। कुछ छिपा रख ही नहीं सकता।

“मताना भी पड़ेगा ?” कहती हुई शमीम कमल पर झुक गयी थी, और उसे खींच कर चित कर दिया था। कमल शर्मिया-सा मुस्कराता रहा था।

कमल की बगल में लेट कर शमीम उसके बालों को सहलानी बोली थी —
“कमल बाबू, तुम हमसे बड़े हो, न ?”

“किस चीज में ?”

“उम्र में ?”

“हूं।”

“कितने बड़े हो ?”

“यही चार-पांच साल।”

“और फिर भी तुम कितने बच्चे हो !”

“क्यों ?”

“गाना सुनते हो, और ठहरने की तबीयत होती है तो कड़ भी नहीं पाने !”

कमल चुप रहा था।

“अच्छा, मौसीने कितना लिया ?”

“मैं नहीं जानता।”

“अच्छा ! कहां तो सही कमल ।” शमीम की आवाज इतनी अपनी थी कि कमल को कहना ही पड़ा था — “दस ।”

“ठगे गये न ! लोग तो सात देते हैं !”

“कमल बाबू”, शमीम बोली थी । जैसे आवाज में कोई जान नहीं थी; जैसे शमीम खोखली हो, उसकी आवाज भी उतनी ही खोखली आर्यी थी । अपनी ब्लाउज की बटन पर पड़ी कमल की उंगलियों को वह अपनी मुट्ठी में बंद किये थी । कमल को लगा था, जैसे शमीम बीमार हो, पीड़ा की तीव्रता को सहन नहीं कर पा रही हो, आवाज ऐसी कराहती हुई-सी लगी थी । कमल ने पूछा था—“क्या होता है शमीम ?”

शमीम चुप रही थी कुछ देर । फिर बोली थी, कुछ नहीं कमल बाबू । वह संभल चुकी थी । कमल की उंगलियों को उसने तब छोड़ दिया था और चुप पड़ी रही थी । फिर बोली थी — “कमल बाबू, एक बात कहूं ।”

“क्या ?”

“तुम सचमुच बहुत बच्चे हो, इसीलिए मुझे तुम औरों से बहुत ज्यादा अच्छे लगते हो !”

“सच ?”

“कसम कहती हूँ । जाने क्यों तुम अपने-से लगते हो !”

कमल ने चाहा, शमीम को खींचकर कर वह अपनी छाती से लगा ले । शमीम उसकी ओर कुछ खिंची, फिर बोली — “सुनो तो ।” कमल हक गया । शमीम ने कहा — “जानते हो, लड़कपन में एक बार मैं बहुत रोयी थी । मेरे अब्बा के पास एक टट्ट था । काला-सा, बड़ा खूबसूरत । दिन के फेर से, एक दिन पिता ने उस टट्ट को बेच दिया । जब खरीदार उसे लेकर चला तो मैं रोने लगी । हजार मनावें लोग, लेकिन मैं रोती ही जाती थी । हार कर, बड़ी दर्द भरी आवाज में, अब्बा ने खरीदार से कहा — भाई जान, बच्ची है, मानती नहीं । मिहरवानी होती, अगर उसे कल ले जाते । लेकिन खरीदार दूर का था । बोला — अब मौदा नय हो चुका, खत्म हो चुका, और मुझे बड़ी दूर जाना भी है । बच्ची को पुसला लेना ।

“अब्बा सर लटका कर रह गये थे । उसे मैं आज भी नहीं भूली हूँ । अब्बा ने मुझे फुसलाते हुए समझाया था — बेटा, उसके हाथ बेंच दिया तो फिर मेरा हक ही उस पर क्या ?” ✓

शमीम

शमीम चुप हो गई थी। कमल इस कथा को समझ नहीं रहा था। वह भी उलझन में पड़ा था। कुछ देर के बाद शमीम को चूमता हुए कमल बोला था — “तुम क्या कहना चाहती थीं, शमीम?”

कमरे में जो एक भारीपन भर आया था वह विच्छिन्न हो चुका था। शमीम आंखें बन्द किये मुस्करा रही थी, और कमल उसे गुदगुदा रहा था। कमल ने इस बार फिर उसे चूमते हुए पूछा—“क्या कहती थीं, शमीम, बोलो न?” और वह शमीम की ब्लाउज की बटनों को खोलता जा रहा था।

सहसा शमीम सिकुड़ कर उठ बैठी थी, और बोली थी — “कमल... रोशनी गुल कर देते।” और सर उसने झुका लिया था। कमल ने पूछा था—“क्यों? पर शमीम चुप रही थी। दो-तीन बार पूछे जाने पर शमीम ने कहा था — “विश्वास करोगे?” और शमीमति हुई आंखें जाकर कमल की आंखों से ठेक गई थीं। शमीम की आंखें तुरन्त झुक गई थीं, और कमल बोल उठा था—“जहर।”

शमीम फिर चुप हो गई थी, जैसे जो कुछ भी वह कहना चाहती है, उसे कहने में भी उसे शर्म आ रही हो।

“कहो न; रोशनी क्यों गुल कर नूँ?”

“...लाज लगती है, कमल।”

कमल चुप हो गया था। पहले उसे लगा था, शमीम उसका मजाक कर रही है; फिर लगा था, उसे बेवकूफ बना रही है। उसे चुप देख शमीम बोली थी — “नाराज हो गये? अरे मैंने तो मजाक किया।”

शमीम हंसी थी; लेकिन कमल को लगा था, उस हंसी में बूढ़े भलक रही हैं, भींगी लगी वह। कमल को तब विश्वास हो आया था, लेकिन शंका भी उठी थी। पूछा था — “शमीम मुझमें ही लाज क्यों लगी?”

“रोशनी तुमने ही जलती छोड़ दी है।” ✓

कमल फिर चुप हो पड़ा था। थोड़ी देर तक सहमी-सी शमीम चुप रह कर बोली थी — “मजाक का इतना बुरा मान गये, कमल बाबू?”

“अच्छा शमीम, तुम्हें इस पेशे के लिए खुले-आम बैठने में लाज नहीं आती?”

सहसा ही जैसे शमीम के शरीर में बिजली दौड़ गई हो, वह भमक कर बोली — “ठाकुर ओंकारनाथ को सुजरां में जाने और गाने में लाज क्यों नहीं

लगती, कमल बाबू ? तुम्हारे महान कवियों को कवि सम्मेलनों में कविता सुनाने में लाई क्यों नहीं आती है, बनलाओगे ? कमल बाबू, यह पेशा है, और इसीलिए किसी भी दूसरे पेशे की तरह ही इसकी भी इज्जत है। तुम अपनी आवाज बेचो, कोई अपनी कविता बेचे, कोई अपनी पैदावार बेचे, हम अपना जिस्म बेचती हैं। बेचने का जहां तक सवाल है, मुझे अपने जिस्म से कोई मोह नहीं। इसमें पाप है ही क्या, शरीर में ही कौन-सी चीज है कि बेचना पाप हो ? ... और माफ करना बाबू, हर स्त्री अपने को बेचती है, हां बाजार का फर्क है।

और यह दक्षिणा ! इतने खुले तौर से वह अपना शरीर कमल को देकर भी नारी है, पतिव्रता है, और महिला है। दक्षिणा शमीम से अधिक महिला है, क्यों ? केवल इसलिए कि वह एक की शमीम है, और शमीम सभी की दक्षिणा ! केवल इसीलिए शमीम को लाज नहीं लगनी चाहिए थी ? खुशियां मनाकर जो लोगों ने दक्षिणा को कमल के हाथों सौंप दिया, केवल उसी के कारण दक्षिणा खुली रहकर भी अवगुंठनवती है, और चुपके-से जो शमीम उस दिन कह पाई थी कि उसे लाज लगती है, वह ? ...

कमल अपनी छाती पर पड़ी दक्षिणा की बांध को देख रहा था, और रोशनी शमीम की आंखों की तरह जल रही थी।

कच्चे धागे

दिन खुला नहीं कि राधा छत पर। गेहूं के फैले खेतों की खुली इबा और उन्मुक्तता तो यहां नसीब न थी, खुली छत कुछ राहत दे लेती थी। यों तो राधा सब-कुछ भूल सक रही थी, लेकिन गेहूं की चालियों के बीच लहराती हवा की याद जब-जब टीस पैदा कर देती। और उससे कुछ राहत मिलती उसे तो छत पर।

राधा का रंग सांवला है, चोटी छोटी, और आंखें बड़ी-बड़ी। शुरू से जो शिलवार पहनती आई है तो वह आदन भी छूटना नहीं चाहती, और उम्र की चीस तक पहुँचने की कोशिश पर भी खादी का लप्पा हुआ दुपट्टा गेहूं की चालियों का हवा में लहराना याद किया करता। कुरते जो एकाध साथ आ सके थे वे पहले के कुछ दिनों में तो कुछ और ढीले ही पड़ गये, लेकिन याद की ताजगी के बासी पड़ते जानें पर, जिस्म की ताजगी बढ़ती गई, और पुराने कुरते बक्स में जो एक बार धुल कर बंद हुए सो आज तक वहीं पड़े हैं। खादी के दो नये कुरते जरूर बन गये। साथ ही शिलवार का घेर जितना पहले था वह अब, कमर से नीचे, कुछ तग हो चला था, गच्चे पिंडलियों पर मोड़री उतनी ही ढीली थी जितनी पहले।

इस दस्तकारी के स्कूल को वह पहले बाजाता स्कूल समझती रही। एक असें तक उसे पता नहीं था कि इस स्कूल का सरकारी महकमों से कोई सरोकार नहीं था। बाद में जब पता चला कि यह इसीलिये कायम किया गया है कि यह, बे-मा-बाप की मासूम जवान लड़कियां, जो सरकारी पहचान के विश्रवाश्रमों में नहीं रहना चाहती, उनके लिये अपने पांव पर खड़ी होकर आइदा जिंदगी बसर करने की

तालीम का इंतजाम कर सकें, तो राधा ने छुटकारे की एक लंबी सांस ली, और बे-मा-बाप की अथर्वस बड़ी बहन जी का, जो इस स्कूल की संरक्षिका की तरह रहती थी, जुआ उसी दिन से राधा की गर्दन से जो भागा तो आज तक भी वे राधा पर अपना सिका फिर नहीं जमा सकीं । अपने साथ की और लड़कियों को राधा ने कई दफा बतला दिया कि वहन जी खुद भी तो कहीं जाने के लायक नहीं हैं । तो उन लोगों की शिकायत करेंगी किममे ! इसलिए, निडर हो कर, जी खोल कर रहो, यूँ जैसे वह खुद रहने लगी है !

यूँ राधा ने स्कूल की 'स्टीन' में कभी कोई स्कावट नहीं डाली है । हाँ, स्टीन से बाकी का वक्त वह अपना समझती है । आज तक कभी भी सुबह उठकर 'रामधुन' में भाम लेना नहीं छोड़ा । फिर, नहा-धोकर, दो घंटे छत पर बैठ कर, चर्खा चलाने में भी उसे कभी एतराज नहीं हुआ । फिर, दस की घंटी पर, जो वह खुद बजा देती, खाना खा लेने के बाद, मुहल्ले की बच्चियों को साथ लेकर दस्तकारी के और कामों में जुट जाने में भी उसने कभी कोई कोताही नहीं की । और शाम को फिर 'रामधुन' में शामिल होने से भी कभी इन्कार नहीं किया । इस-लिये वहन जी भी सारा काम छत पर करने की उसकी शोखी पर कभी खुले तौर पर नाराज न हो सकीं, और ज़िम दिन से उनसे नीचे के अपने कमरे की खिड़की से सर के मुफेद होते हुए दृष्टे वालों को फेंकते हुए, कनस्त्रियों से, यह देख लिया था कि अपनी छत पर खड़े किमनचंद की आंखें एकट्ठ उनके स्कूल की छत पर जमी हुई हैं, उस दिन से राधा के खिलाफ कोई शिकायत रखते हुए भी, अपनी स्त्रातिर, अपनी जुवान पर ताला रखने में ही उन्होंने अक्कमदी समझी, क्योंकि चंद की रकमों के खाने के सामने, देनेवालों के नाम में, किमनचंद का ही नाम सबसे ऊपर रहा करता । साथ ही, वहन जी इधर यह भी सुन रही थीं कि किमनचंद को लोग अगली बार डिकट देने की बात भी मोंच रहे थे, और जब कि प्रांतीय कमिटी के लोगों की गाड़ी किमनचंद के बगले के पोडिको में बराबर लगी रहती थी, और किमनचंद मुफेद खादी छोड़ और कुछ कभी पहनता ही न था, तो वहन जी उसकी आंखों की क्या शिकायत करें । सो उन्होंने उस दिन अपने मन को यह कह कर समझा लिया कि आंखें देखने के लिए ही तो हैं, इनसे कुछ बलियां तो चलनीं नहीं कि किसी तरह का कोई अंदाश हो । और इस तरह दस्तकारी स्कूल के क्लासों की स्टीन में कभी कोई फर्क नहीं आया ।

कच्चे धागे

लेकिन एक दिन जब राधा मचलनी-दुनकनी, अपने दोपट्टे को संभालनी, नीचे आकर बोली — ‘बहन जी, बहन जी, मैं यहाँ नहीं रहूंगी; मुझे आप कहीं और पहुँचा दो’ — तो बहन जी को यह नहीं सूझा कि किस तरह इस नयी परेशानी से वे पेश आयें। हकलाकर वे इतना ही पूछ सकीं, ‘क्यों, बान क्या है?’

‘वो, वो, सामने का घरवाला आज मुझे घूर रहा था।’

लेकिन राधा की आंखों की शरारत बहन जी की रोहेदार आंखों को धोखा नहीं दे सकी। लेकिन राधा जिद्दी जो थी। अड़ गई कि उनसे कहा जाय कि अपनी आंखों की गरत खुली छत के चौड़े पाट पर पटक-पटक कर न खोयें। और सरक्षिका के नाते बहन जी से अड़ कर इंकार करते न बना। लेकिन जो जवाब लेकर वे आईं उससे राधा मन-ही-मन अपनी शरारत पर शाबासी देने से बाज न आई। किमनचंद ने कहा था कि छत की दक्खिन तरफ की जो दीवाल टूट गई थी, वे उसे ही देखकर सोच रहे थे कि उधर से स्कूल बेहिफाजत हो जाता है, और वे सोचते हैं कि स्कूल की वह दीवाल वे ठीक करा दें। सो अगर बहन जी की राय हो तो कल ही सुबह वे अपने एक ठेकेदार के साथ जाकर उसे देख आयें और ‘एस्टिमेंट’ करके कल से काम शुरू करवा दें। और फिर तो नेकी और दरियादिली की ऐसी तारीफ पाकर बहन जी किसी कदर हिम्मत न कर सकीं कि वे कह सकतीं कि किमनचंद की ओर से भी छत पर एक दीवाल खींच दी जा सके तो स्कूल की बहुत बड़ी हिफाजत हो सकती है।***

‘लेकिन आज यह सब क्या हो गया!’ राधा छत पर घूम-घूम कर सोच रही थी। आज तक किमनचंद उसे घुरा नहीं लगा था, और उस दिन जब किमनचंद बनती हुई दीवाल का तिसरी दफा मुआइना करने पहुँचा था, और जिन अल्फाजों में उससे बातें की थीं, उसमें राधा के सपने और भी गहरा उठे थे। किमनचंद ने जो भारी हुई आवाज में कहा था — ‘राधा देवी, इस अकाल से जो लाखों मर रहे हैं, या मरने वाले हैं, उनके लिए हम सबको कुछ करना होगा। भूख से तड़पती हुई जानें चीख रही हैं, पुकार रही हैं जी, कि तुम, जिसमें इन्सानियत और गरत हो, आगे बढ़ो, कुछ करो और हमारी डूबती हुई कस्ती को किनारे लगाओ। जी, मैं तो केना हूँ कि हम सब अगर इनके लिए कुछ कर न पाये तो अपने को इन्सान ही कैसे समझ सकेंगे?’

और उसकी आंखें भर आई थीं। उसकी भारी-भरती आवाज ने राधा के कलेजे में भी जाने कैसी एक बेकली भर दी थी कि आंखों पर हजार ज्वन की कोशिश पर भी उसकी आवाज भरी उठी थी, और वह सिर्फ इतना ही कह पाई थी — “किसनचन्द जी, लोग भूख से सचमुच मर रहे हैं क्या?”

और उसी घड़ी यह बात तै पाई थी, कि क्या और कैसे किया जाय, इस पर विचार करने के लिये किसनचन्द एक रोज अपने यहाँ एक बैठक करके तै कर लेगा, और उसी हिमाब से काम होगा।

उस दिन राधा ने बारी-बारी से अपने साथ की सभी लड़कियों को पकड़-पकड़ कर बतलाया कि अकाल-पीड़ितों के लिये कुछ करना होगा। यदि वे सब ही कुछ करने को आगे नहीं बढ़ेंगी तो इन दुखियारों का दर्द, उनकी चीख-पुकार, आखिर मुनेगा कोन? और इस तरह अपने उत्साह से राधा ने सभी में उत्साह भर दिया, और फिर तो आगे-आगे राधा और पीछे और लड़कियां जा धमकी थीं बहन जी के कमरे में।

बहन जी कितना घबरा गई थीं! हकलाते हुए उन्होंने पूछा था — क्या, क्या बात है राधा? और जवाब में राधा ने कहा था — “इन गरीबों के लिये कुछ करना होगा, हमें कुछ करना है।” और फिर जो उन लोगों की सभा बैठी तो ‘हटीन’ का भूलकर रात के खाने की घंटी ग्यारह के पहले न बज सकी। उस रात को ही तै किया गया कि जो भी ये लोग करेंगी उसका नेतृत्व किसनचन्द के हाथ में होगा, और जब इन्हें कामयाबी हासिल हो जायगी तो किसनचन्द को एक दिन इस स्कूल की ओर से एक मानपत्र दिया जायगा। राधा ने उस पर तर्फी दी थी कि उन्हें खादी के फूलों की बनी एक खूब मोटी और रंगीन माला पहनाई जायगी।

तजबीज सबों को पसंद आ गई थी, और साथ की लड़कियों ने यह तै कर दिया था कि माला खरीदी नहीं जायगी; राधा खुद बनाये, और वह भी सूत कातकर, चुनकर, फूलों को तैयार करे। और राधा ने, अपने सपनों में डूबते-उतराते हुए, इसे बखुशी-बशोक मान लिया था। चुनांचे दूसरे दिन से ही जितनी बेसब्री से वह किसनचन्द की बैठक की बाट देखने लगी उतनी ही फुर्ती और ध्यान से सूत कातने और रंगने में लग गई थी। और चखें के हर धुमाव के साथ सपनों में एक नया, बारीक और रंगीन धागा जा मिलता। लेकिन...

कच्चे धागे

राधा ने एक उसांस ली। इस सटीन का आज आखिरी दिन था। आज ही शाम को उसे किसनचन्द के गले में, अपने हाथ में, रंगीन माला पहनानी है जिसके गुलाब की नकल में बने सुकुमार, छोटे, रंगीन, एक-सौ-आठ फूलों का आखिरी नयार करना है, और पिराने के लिये धागा कानना है, लेकिन...

और यहीं पर आकर आज राधा रुक-रुक जा रही है। हाय! यह क्या हो गया, कैसे हो गया! राधा सोच नहीं पाती आज। किसनचन्द ने पहले तो कई दफा उससे, अरु बहन जी से, मुलाकातें कीं, और बैठक की बात पर कभी बतलाया कि इस स्कूल की दीवाल बन जाय तो इमीनान से बैठक हो, और कभी बतलाया कि उसके 'ग्रोन फर्म', 'किसनचन्द एंड किसनचन्द', में काम इतना आ गया है कि समय नहीं मिल रहा है। वह तो कभी नहीं चाहता था कि उसे सरकारी स्टाकिस्ट बनाया जाय, लेकिन वह तो जनता का सेवक है जी। जब सरकार का हुक्म हुआ कि उसे स्टाकिस्ट बनना है तो यह सोचकर कि चलो वह इस बढ़ाने शहर की जनता की कुछ खिदमत तो कर ही सकेगा, राजी हो गया जी। अब देखो कि उसकी परेशानी कितनी बढ़ती गई है। उसके चार-चार गोले सरकारी गल्लों में फंसे हैं। एक में एक लाख से ऊपर का गेहूँ है, तो दूसरे में हजार बोरियाँ चीनी की हैं, तीसरे में चावल के चालीस हजार मन पड़े हैं, और चौथे में और राधा हमदर्दी से अधीर हो उठी थी। किसनचन्द के दिप-दिप चेहरे पर कम उम्र की निशानी होते हुए भी जो उसकी कनपट्टियों पर के लच्छंदार घुघराते बाल में कुछ मुफेदी आ चली थी, और हर सुबह छत पर जाने ही जिसे देख कर राधा को ताउजुब हुआ करता था कि यह ऐसा क्यों है, उसकी वजह उस दिन वह जान गई थी। आखिर बेचारे के मिर पर इतना जो बोझ है! और दिल में एक उठते हुए ख्याल, कि वह किसी तरह उसकी फिक्रों को थोड़ा भी हर पाती, के आधे पर आते हुए, उसके कान सुन रहे थे — देखा जी, इतने रुपये हमारे फसे हुए हैं, और उस पर जेरबारी यह कि कहीं कुछ इन गोदामों में हो गया तो रुपये तो मेरे गये ही, गैरजिम्मेदारी भी समझी जायगी लेकिन बैठक जन्द ही कलंगा, हाँ।

और उसके चंद दिनों के बाद 'किसनचन्द एंड किसनचन्द' के बारे में जो दैनिक समाचार उसने पढ़ा तो वह तो मुन्न हो गई थी। किसनचन्द के गेहूँ वाले गोले में आग लग गई थी जो चार-चार फायर ब्रिगेड के लगातार

दो घंटे तक काम करते रहने पर भी अखिधार में नहीं आ पाई थी। डेढ़ लाख रुपयों के घाटे का अंदाज किया जा रहा था। राधा का जी उस दिन उमड़-उमड़ उठता, और उसकी रोनी सूरत देख कर साथ की सभी लड़कियों के चेहरे पर हवाई उड़ रही थी। लेकिन शाम को राधा को ताउब का कितना बड़ा धक्का लगा था जब कि किशनचंद फाल्ता चेहरा लेकर आने पर भी कह गया था कि आज आठ बजे उसके यहां बैठक होगी। राधा के मन में इन घटनाओं का कितना तेज असर हुआ था। शाम से बैठक के वक्त तक वह सोचनी रही थी—“यह आदमी है या देवता! अभी इसके ख्याल में बैठक और ‘रिलीफ’ की बातें घूम रही हैं।” और हमदर्दी की एक और बड़ी लहर ने उसके कलेजे को शराबोर कर दिया था।

जाने की तैयारी में उसने अपनी ऊन की हरी ब्लाउज, जो उसमें हृदय चुन ली थी, पहन ली। आज उसका दिल दरिया हो रहा था। किशनचंद की थकी आंखों को इस हरी ब्लाउज से जो थोड़ी भी राहत पहुँच सके तो वह अपने को धन्य मानेगी, क्योंकि वह जानती थी, किशन को वह ब्लाउज बहुत पसंद थी। कैसे जानती थी, वह कह नहीं सकती, मगर उसका जी जाने कैसे जानता था और कहता था कि वह ब्लाउज उसे पसंद है जरूर।

और उस रात बैठक में यह तैयारी कि किशन का लिखा ड्रामा ‘सामाजिक रोग’ स्टेज किया जाय और उस चैरिटी शो के जो पैसे हों वह ‘रिलीफ’ के लिये दिया जाय। लेकिन उस वक्त तक शहर में उड़ती अफवाह कि किशन ने रात में ही गोदाम का सारा गन्ना ‘ब्लैक’ कर दिया था, और तब आग लगवा दी थी, राधा के कानों में भी पड़ चुकी थी, और वह बेचैन थी कि किशन इसका खडन कर सके। सौ बैठक के खत्म होने के बाद राधा को सुबुक आवाज में यह कहते हुए कि तुम्हारे जिरम पर तो जी, यह हरी ब्लाउज खूब फबती है, चलो पहुँचा आऊँ, वह साथ हो लिया तो, बहन जी के साथ रहने पर भी, राधा यह पत्रे बिना नहीं रह सकी थी कि आखिर यह अफवाह क्या थी? और पहले तो किशन टालता गया, लेकिन बाद में वह इस पेंच की बात पर जैसे आखिरी परदा डालते हुये बोला, “वह सब ‘बिजनेस’ की बातें हैं जी, छोड़िये भी। बहन जी, यह बन-लाइये, राधा जी को कौन-सा पार्ट दिया जाय?” और फिर... और फिर...

राधा ने अपनी बेबस, थकी-हारी, उथली, आंखों को उपर उठाया तो देखा

बच्चे धागे

कि किसनचन्द के दांत हसी में, बिजय में, खिल रहे थे। लेकिन और रोज की तरह आज राधा की आंखें चमक नहीं पड़ीं। एक भारी धकन से जैसे वे झुक आईं।

और वह सोचती गई कि भारी जी लेकर भी दो-चार दिनों तक किसन के ड्रामे का पाठ वह याद करती रही, और जी को ण्ड भी लगाती रही कि वह स्टेज पर उतरेगी और खूब काम करके दिखला देगी, लेकिन जी कौंध नहीं पाया उसका।

और फिर चंद दिनों के बाद उसे बहन जी ने बतलाया कि किसनचंद के यहां शाम को बैठक की बुलाहट थी। उस बैठक में अपने शहर की जनता के खिदमतगार कहने वालों ने यह बतलाया कि किसनचंद की मिहनत, और स्कूल की लड़कियों की प्रार्थना का, नतीजा यह हुआ है कि बड़ी सरकार ने ज्यादा गला भेज दिया है जो अकाल से परेशान लोगों की तरफ ज़रूरी ही भेजा जाना वाला है। और खुशी की बात है कि यह सारा गला किसनचंद के गोदाओं में जमा किया गया है कि उसकी देख-भाल, और ठीक-दिफाजत हो सके। इसलिए 'चैरीटी शो' की बात को अभी रोक रखा जाता है कि बदकिरमती से अगर कोई वेशी बात फिर उठ आई तो इस 'शो' को करके रुपये इकट्ठा कर सकने की मद्दलियत रह जाये। और चूंकि यह सब किसनचंद की मिहनत का फल है, इसलिए कल इस स्कूल की तरफ से इन्हें मानपत्र दिया जाय।

इस पर राधा को लगा था, जैसे एक खोखलापन, चारों ओर से, गुब्बारे क तरह उसे घेरता आ रहा हो; जैसे गेहूं की बालियों से छुड़ाये एक-एक दाने को आज क्या हो गया था कि वे खोखले लग रहे थे।

राधा की आंखें जब आदत की वजह से ऊपर को उठीं तो उसने किसन को देखा तो ज़रूर, लेकिन चखें पर खिंच आते धागे को पकड़े उसके दाढ़िने हाथ में रुई की पोल ही रह गई थी, धागे टूट रहे थे।

सलीमा

मैं कहानी नहीं कह रहा हूँ। आंखा से कुछ देखा है, उसे ही दुहराने की कोशिश कर रहा हूँ। आप पूछेंगे, क्यों ? तो इसका कोई उचित उत्तर मेरे पास है, या नहीं, सो मैं नहीं जानती। बस, इतना है कि उसे दुहराये बिना रहा नहीं जाता, इसीलिये उसे कह रहा हूँ। हाँ, कहने पर भी इतना जानता हूँ कि वह कहानी नहीं होगी।

वह एक शहर है—बहुत बड़ा। वहां इक्के, गाड़ी, और टमटम, और मोटरों के चलने के लिए लंबी-लंबी सड़कें हैं। और लोगों के चलने के लिए फुट-पाथ। तो अगर फुट-पाथ पर चलने वाले सड़क पर चलने की धृष्टता करें तो फल क्या हो ? और यदि ऐसी धृष्टता के कारण दुर्घटनाएं हो जाया करें तो 'सेडान बांडी' वाली बड़ी-बड़ी गाड़ियों की उस में क्या गलती ? हाँ, उनकी गलती ही क्या उस में ? यह तो सरासर उनकी धृष्टता है कि फुटपाथ छोड़ कर अलकनरे की सड़क पर चलने की कोशिश करते हैं।

तो उस दिन मैं भी बड़ी-बड़ी गाड़ियों की आंधी में पड़ने से बचता हुआ फुटपाथ पर चला जा रहा था। पलकों के उठने और गिरने में ही सड़क पर दसों गाड़ियां निकल जातीं। टमटम और इक्के का तो तार ही बंधा था। उस शहर के लिए नया होने के कारण अगल-बगल की दुकानों पर भी नजर दौड़ाता जा रहा था—यह पारचुन की दुकान है। निकल रही हैं एक गोरी महिला। हाथों में उन के एक बड़ा-सा खूबसूरत डब्बा है। शायद पाउडर का हो। ...और यह हुआ 'टेलरिंग हाउस'। पच्चीसो मशीनें चल रही हैं, और मालिक

सलीमा

कह रहा है—Oh Sir ! you are a changed man in this suit. और उस सूट के 'सर' सामने के आदमकद आइने में अपना सर देखकर मुस्कुटा रहे हैं। शायद सोच रहे हों, लीला तो चौंक पड़ेगी ! लीला या लिली ? या मिस कोई ?...

तो चला जा रहा था और शहर के बड़े होने की सामग्रियों को विस्फारित नेत्रों से देखता जा रहा था। कि किसी ने जैसे बगल से ही पुकारा — बाबू जी !

मैं अभी क़ार्रा हूँ। किसी का भी बाबूजी नहीं। सो अनायास, इतनी आसानी से, मैं किसका बाबूजी बन गया, इसे देखने को मैं मुड़ा। सामने खड़ी थी वह। पतली-दुबली, गोरी-सी, बारह-तेरह साल की एक छोकरा। फटा-पुराना पायजामा, लाल छोट का, बहुत गंदा; और एक उसी अवस्था का प्राप्त चोली। ओढ़नी उसकी थी जो बना रही थी, कभी उसे ओढ़ कर भी वह बालिका खुश हुई होगी। बालिका के हाथ में छोटी-सी, टूटी-सी, एक डलिया थी जिसमें सजे थे कुछ अंडे।

मैं अंडे नहीं खाता। सो बिना कुछ बात-चीत के ही मैंने कह दिया, ज़रूरत नहीं, और आगे बढ़ा। कि सुना—बाबूजी !

आवाज बड़ो पतली और कमजोर थी। दया आई, पर मन को समझाया — बच्चे नहीं बनते। जिस चीज की ज़रूरत नहीं उसे खरीद कर ही क्या करोगे ? और मदद की बात तो फिज़ूल है, क्योंकि दुनिया में कितने ऐसे और इससे गये-गुजरे भी पड़े हैं; तो क्या यह कभी मुमकिन है कि उन सभी की मदद कर सको ? सोच ही रहा था कि तीसरी बार 'बाबूजी' बनना पड़ा। मैं रुका, मुड़ा, और बोला — मैं अंडे नहीं खाता।

वह मेरी ओर ताकने लगी। आँखों में आँसू उमड़ रहे थे। बोल न सकी। चेहरे पर बेबसी थी। मैं रोक न सका। सैलानी आदमी। शहर घूमने निकला हूँ। कोई जल्दी तो है नहीं। कुछ तसल्ली दे दं। तो पूछा—क्या नाम है ?

“सलीमा।”

“कहाँ रहती है ?”

“सालिमपुर में।”

सलीमा और सालिमपुर ! मुझे कुछ अच्छा लगा। लेकिन आगे क्या पूछूँ, समझ नहीं सका। अंडे मैं खाता नहीं। खरीद कर पैसे बरबाद होंगे। और पसों का मूल्य बहुत है, इससे वाकिफ़ हूँ। तो क्या कहूँ, यही सोच रहा था। दिल दुखाना

अच्छा नहीं। रोका है तो कुछ मीठी बातें कह कर आगे बढ़ूँ। मैं यही सोच रहा था कि सलीमा ने पूछा—“कितना दूँ?” मैं अंडे नहीं खाता तो फिर एक भी बेकार था और दस भी। इसीलिए कह दिया—क्या कहूँ, मैं अंडे नहीं खाता। ...

मेरी आवाज शायद कुछ मुलायम पड़ गई होगी, नहीं तो मुझे बीच ही में रोककर सलीमा क्यों कहती—बाबूजी, आज अभी तक एक भी नहीं बेच पायी हूँ। अम्मी बैठी होंगी कि सलीमा अब आयी, अब आयी!

सलीमा बहुत तेज बोल रही थी कि कहीं उसे बीच ही में टोक न दूँ, सो सलीमा एक साँस में सब कह गई। लेकिन मेरी समझ में बात न आई। उसकी मा बैठी होगी, उम्मीद में, कि सलीमा अब आई ... अभी तक एक भी बेच नहीं पायी है। तो इससे यह कैसे सिद्ध है कि अंडे ले लूँ उससे? लेकिन सलीमा की आँखों में जो गरीबी झलक रही थी वह मुझे निरस्त्र बनाये दे रही थी, और कोशिश करने पर भी मैं आगे न बढ़ सका। पूछा—मा क्यों बैठी होगी, सलीमा?

“बाबूजी, बाबूजी”...और कोशिश करके भी वह आगे न बोल पाई। सिसकियाँ बंध गईं। आँखों से आँसू चल पड़े। कहा—रोती क्यों हो सलीमा? ना, ना, चुप हो जाओ...

साँत्वना के शब्दों ने उसे और पिघला दिया। वह सिसक-सिसककर कहने लगी—उसकी मा है जो तीन दिनों की भूखी है। एक छोटा भाई है जो हफ्ते भर से बीमार है। खुद उसने कल शाम से ही कुछ नहीं खाया। ये ही अंडे हैं। इन्हें बेच कर भाई के लिये दवा-पथ्य लेने आई है। और अंडे अभी तक बिके नहीं। भाई सागू को रट रहा था। उसे दिलासा देकर आई थी कि वह बाजार से सागू ले कर अभी लौटी, तुरन्त लौटी। ...

आज कोशिश करने पर भी मैं यह नहीं समझ पा रहा हूँ कि उस दिन मुझे क्या हो गया था। दिल के दुख उठने पर भी मेरी जुबान से निकला—सलीमा तुमने तो अभी तक कुछ भी नहीं खाया होगा? और उसके सर हिला कर बतलाने पर कि मैं जो समझ रहा हूँ सही है, बोला—अच्छा तो देखो, मैं तो अंडे खाता नहीं। फिर भी, तुम यह लो। कुछ खरीद कर खा लो।

सलीमा ने सर हिला कर यह फिर बतलाया कि वह भीख नहीं मांगती। मैंने जोर दिया—ले लो, ले लो, कुछ खा लो। तो सलीमा बोली—“आप अंडे

नहीं लेंगे ?” मैंने समझाने की आवाज में कहा—ले लेता सलीमा, लेकिन तुम तो समझती ही हो कि मेरे लिए वे बेकार होंगे, क्योंकि मैं खाता नहीं ।

सलीमा ने कुछ कहा नहीं । एक बार आंखें उठाकर उसने मेरी ओर देखा । उन आंखों से ही जैसे-उसने कहा—मैं तुम्हारी दिक्कत समझ रही हूँ । तुम अंडे नहीं खाते । फिर ले कर ही क्या करोगे ।

और सलीमा मुड़ी । किसी और ग्राहक को देखने । मैं आगे बढ़ा । मैं सोच रहा था—गरीबी इन्हें क्यों नहीं भाती ? दिन भर मिहनत कर शाम को चैन की रोटी खाना इन्हें पसंद क्यों नहीं ?... गरीबी का चित्र, एक आदर्श चित्र मेरी आंखों के सामने आया । एक फूस की भोपड़ी हो, लिपी-पुत्ती । सामने हरे-भरे लहलहाते खेत हों । दिन भर उन में काम कहाँ । शाम को आऊँ । रोटियाँ मिलें । खाऊँ और सोकर नाक बजाऊँ ! तखीर मुझे बड़ी प्रिय लगी । जिन्दगी में स्वर्ग है तो यही । और सो देखो इन त्रेवकूफों को कि ऐसी जिन्दगी पसंद नहीं । शहर में रहना चाहते हैं । छिः, वह भी कोई जिन्दगी है !... ”

कि सहसा सुन्न हो गया । अनेकों गले से निकल कर आवाजें मिली और एक हल्ला हो पड़ा । इतना ही सुन सका — कोई एक, बड़े मोटर के नीचे आ दबा है । घटना दस कदम पर हुई थी । गया । एक बड़े मोटर को घेर कर भीड़ वृत्ताकार हो गई थी ।

मैं जरा नाटा हूँ । घटना-स्थल पर पहुँचा भी देर से । इसलिये बहुत पीछा था । आंखों से उस समय देख तो नहीं रहा था, पर सुन रहा था—अहाहा ! बेचारी कह रही है कि मा तीन दिनों की भूखी है... और टूटे-फूटे, अधटूटे, अंडों को बिटोर रही है... ”

मैं ज्वन न कर सका । दायें-बायें दबाता, आगे चला आया । बड़े आदमी की मोटर । बड़ी भारी । सामने धूल में लोट रही सलीमा । उसके सामने ही अपने पीलेपन में लिपटे अंडे ।

सलीमा रो रही थी । दोश में थी वह । कह रही थी—मा तीन दिन की भूखी बंटी उसकी बाट जोह रही होगी । वह तो अंडे बेचने आई थी कि कुछ पैसे ले कर घर जाए । दोपहर हो गयी और अंडे न बिके । और वह अब क्या ले जायेगी ?... रहम सागू के लिये रो रहा होगा ।... सलीमा छटपटा-छटपटाकर अंडे उठाती । और अंडे पीले से लाल हुए जा रहे थे ।

पाँच उंगलियाँ, दाढ़िने हाथ की, कटकर लटक रही थीं। और सलीमा जब अंडे उठाती तो उंगलियाँ उसका कहना न मानतीं...

और मोटर को ड्राइव करते हुए बाबू भीड़ को कह रहे थे—अंधों को चलना तो आता नहीं और हिमाकत देखिये कि चलेंगे 'मेन रोड' पर। वह तो कहिये, बायें दबाना चला गया वरना अभी जान ही चली जाती।...

अस्पताल में सलीमा की आँखें बंद थीं और वह अस्फुट स्वर में कुछ बोल रही थी—अम्मा तू...कहाँ जाएगी।...चुप रह रहमत। मैं...मैं...अभी तेरे लिये...सागू...ओह...माँ ने तीन दिनों से...आह!...हमारे अंडे...फूट...चुप...रह...रह...म...त मैं तेरे...लि...ए...सा!...और फिर उसने बड़ी दृढ़ता दिखाई, चुप हो गयी।...

शाम हो रही थी। गंगा के पानी में छोटी-छोटी लहरियाँ उठ रही थीं। सूर्य लाल हो कर ढल रहा था—थोड़ा—आधा—पूरा। पार के फैले हुए बाल की रेत में बनी एक अकेली भोपड़ी थी। उसकी छत पर धुआँ उठ रहा था। और गंगा की छाती पर दौड़ती एक आवाज आ रही थी—माँभी! ओ माँभी!

और मेरे मन ने दुहराया—मैं अंडे नहीं खाता!

विभा को एक पत्र

स्थानीय,
रान के दो बजे ।

प्रिय विभा,

कल शाम को हमारी-तुम्हारी जो आखिरी बातें हुईं, वे शायद तुम्हें याद होंगी । मैं उसी के बारे में कुछ कड़ना चाह रहा हूँ । तुम शायद सोचो कि पत्र से क्यों ? तो पत्र से इसलिए कि मैं स्वयं अब तुमसे बातें नहीं कर सकूँगा; इसलिए नहीं कि मैं चाहूँगा नहीं, बल्कि इसलिए कि मैं, जब तक इस पत्र को तुम पाओगी, तुमसे और तुम्हारे शहर से दूर, बहुत दूर, जाने की आवश्यकता से गाड़ी पर बैठा किसी छोटे स्टेशन पर पान-बीड़ी वाले की आवाज, हो-हल्ले, मैं तुम्हारी याद करता हुआ, कलेजे के बढ़ते हुए दर्द को दबाने की कोशिशें करता रहूँगा ।

इसके पहले कि मैं और कुछ कह लिख-सकूँ, मैं तुम्हें यह बतला दूँ कि तुम इस पत्र को पाओगी उसके पहले ही मैं मेल पर सवार रहूँगा । मैंने कल शाम को तुमसे बातें करते-करते अन्त में यह कहा था कि मुझे अब यह शहर छोड़ना पड़ेगा । मेरा ऐसा निश्चय क्यों हुआ यह शायद तुम समझ रही होंगी । फिर भी बातों को समझने के मानी ही हैं अपनी तरह से समझना, अपने दृष्टिकोण से उनको समझना । इसलिए मैं किस तरह उन्हें देखता हूँ, मैं चाहूँगा कि यह मैं तुम्हें बतला दूँ, यानी तुम उन्हें मेरी आँखों से जरा देख सको तो, विभा रानी !

एक क्षण में, पहली नजर पड़ते ही, अगर तुम गौर करो तो पाओगी कि एक इन्सान दूसरे के बारे में कुछ धारणाएँ बनाने लगता है । नींव वहीं पड़ जाती है । बाद में, बार-बार मिलने पर, तुम इंगारत खड़ी करती हो । प्रथम दृष्टि-निक्षेप में जो नींव पड़ जाती है, जरा सोचो तो, उस समय कितनी सारी बातें उस नींव

के आयाम के लिए उत्तरदायी होंगी । तुम्हारी मनःस्थिति; किस पृष्ठभूमि में तुम्हारी मुलाकात होती है; आदि-आदि । लेकिन, इतनी सारी बातों के रहते भी नींव ठीक पड़ती है, क्योंकि तुम उस समय सतर्क, चौकस, नहीं रहती । सभ्यता, मेरे विचार से, सतर्क रहने की कौशिश को ही कहेंगे । जब हम किसी से मिलने को 'तैयार' होकर मिलते हैं, तो हम 'तैयार' होकर मिलते हैं । इस तैयारी को अगर सतर्कता कहें तो क्या गलत होगा ? और फिर प्रथम दृष्टिनिक्षेप में पड़ी हुई नींव तब एक तर्क का मुख्यअंग भी तो बन ही जाती है, जिससे छुटकारा नहीं; तब तक, जब तक नींव ही न बदल दी जाय ।

सो पहले दिन से ही मैं भी इस प्रथम तर्क के जाल में खिंचता गया । जब आज तक की तुम्हारी बातों, और अपने प्रति किये गये व्यवहारों, पर नजर डालता हूँ, तो पाता हूँ कि तुम्हारे सान्निध्य में रहते हुए, जो कुछ तुम्हारे विषय में मैं तुम्हें बतलाता गया हूँ, वह नितान्त गलत नहीं । सच पूछो तो बातों की असलियत, जो दूसरे शब्दों में हमारी असलियत है, का तब तक पता नहीं चलता जब तक हम उनके नजदीक रहते हैं; तब हमारी बातें और हम अभिन्न रहते हैं । उनसे दूरत्व पा कर ही हम उन्हें उनके वास्तविक रूप में देख सकने की 'पर्सपेक्टिव' पाते हैं । इसीलिये, मैं आज फिर उन बातों को दोहरा रहा हूँ जिन्हें मैंने तुमसे आज तक कहा किया है ।

शायद तुम इसे पढ़ कर भी उतना ही रंज मानोगी जितना इसे सुनकर बुरा मानती रही हो । लेकिन शायद दूरत्व पाकर तुम वास्तविकताओं से आँखें मिला कर देख भी सको । अन्तिम विदा के क्षणों में मैं शायद इसकी चिन्ता नहीं कर पा रहा हूँ ।

तो मैं फिर कहूँ कि बुरा तुम मानोगी, इसलिए नहीं कि मेरी बातें बुरी हैं, बल्कि इसलिए कि इससे तुम्हारे अहम् को चोट पहुँचती है । लेकिन, यदि इस सत्य को समझ कर, तटस्थ होकर, तुम मेरी बातों को देख सको तो इनके सत्य को तुम परख पाओगी और खरा पाओगी ।

मेरी-तुम्हारी जान-पहचान की अवधि तीन खंडों में बाँटी जा सकती है । तुम्हें मालूम है कि मुझ से जान-पहचान होने के पहले तक तुम्हारी विचारधारा आदर्शोन्मुख थी; इसका प्रभाव तुम्हारे दृष्टिकोण पर स्पष्ट था । तुम आज भी सुख-साधनों के प्रति संशयालु हो । इसे एक छोटी-सी बात से ही समझ सकती हो । तुम्हें रंगों से नफरत है । लेकिन शायद तुम आज भी न मान सको कि सफेद

रंग विभिन्न रंगों का नकारात्मक रूप नहीं है, वह भी एक रंग ही है !

मैंने तुम्हें प्यार किया है, यह तुम जानती हो। तुमने भी कई दफा माना है कि तुम मुझे बेहद प्यार करती हो ! फिर हम दोनों ने यह भी जाना कि हमारे लिए प्यार की राह उतनी टेढ़ी नहीं रही जितनी लोग बतलाते रहे हैं। तुम्हारे शान्त और गम्भीर बने रहने के कारण तुम्हारे घर वालों का सपने में भी यह संदेह नहीं हुआ कि तुम प्यार जैसी भावना को समझ सकने में भी समर्थ हो सकोगी। जिस उम्र में लड़कियाँ उपन्यास और कविताएँ पढ़ा करती हैं, तुम गीता और उपनिषद् पढ़ती रहीं ! वैसी हालत में हमारा-तुम्हारा मिलना-जुलना कठिन नहीं हुआ। हम मिले, मिलते गये; लेकिन मिलकर ही शायद तुमने यह कोशिश की कि मैं तुमसे दूर होता जाऊँ। श्वर, हाल, में तुम्हारा व्यवहार तो ऐसा रहा कि तुम्हारे साथ बैठ-वैठ कर भी मैंने महसूस किया कि हम-तुम एक दूसरे से बहुत दूर हैं, दूर होते जा रहे हैं। जाने क्यों ? पूछने पर भी तुमने बतलाया नहीं। यह कह कर ही सन्तोष करती रहीं, टालती रहीं, कि तुम मुझे इतना प्यार करती तो हो भला ! और उस पर यदि मैंने तुम्हें अपनी प्रतिक्रियाओं को समझाना चाहा, और नजदीक आना चाहा, तो पाया कि प्रेमपूर्ण बातों की रसधार बहाकर तुम आसानी से मेरा मुँह बंद कर देती रहीं। यह कह कर मेरे दुखे हुए दिल को तुम सहला देना चाहती रहीं कि तुम मुझे प्यार करती तो हो।

शाम को मिलने पर मैंने सोच लिया था कि या तो अब मैं सदा के लिए मिलना-जुलना बन्द कर दूँगा, या मेरे दिल में फिर कभी ऐसा टीस नहीं उठेगा। और मैंने तुम्हें बातें करने को बाध्य किया। क्या तुम्हें शाम की सारी बातें याद हैं ?

प्यार में, मिलने-जुलने को मैं सतर्कता से अलग-की चीज मानता हूँ लेकिन फिर भी हम यदि एक दूसरे को न समझ पायें तो वह बीच का पर्दा बना रह जाता है। हम मिल नहीं पाते। वह भी प्यार क्या जब कि हमें भय हो कि कहीं कोई एतराज न हो जाय, किसी को चोट न लग जाय। ये बातें इसकी पूर्व-कल्पना करती हैं कि एक-दूसरे की समझ उस सीमा को नहीं पहुँची है जहाँ हमारा सारा व्यापार एक-दूसरे के लिए होने लगता है।

शाम को जब मिलते-ही-मिलते कुछ बातों पर तुम बोलीं कि 'यह प्राकृतिक है, स्वाभाविक है, कि जब कोई आदमी दस-पाँच आदमियों से मिलता-जुलता रहेगा, तो किसी एक से उसका जी अधिक लगेगा ही तब मैं प्रसन्न हुआ था। लगा था

शायद तुम आज सत्य के बहुत निकट आ गयी हो, आना चाह रही हो। मैंने बड़े हलके मन से तुम्हारी और निर्मल की बातें शुरू कीं। लेकिन फिर वही पुरानी बात बीच में उठ खड़ी हुई—तुम्हारी जिद ! मैंने जितना चाहा कि तुम सच्चाई को देख सको, मान सको, तुम जिद पकड़ती गयीं, और अपने-उसके व्यवहार के भजीबो-गरीब कारण, बहाने, और दूर-दूर की कौड़ियाँ लाती गयीं।

विभा रानी, क्यों भूलती हो कि तुम्हारा श्रीश बड़ा बुद्धिवादी है, और उसे सच्चाई से डर नहीं लगता। अगर तुम अपने और निर्मल के संबंध की सच्चाई को देख सकतीं, तो मैं क्या ईर्ष्या अनुभव करता ? लेकिन शायद तुम मुझ पर विश्वास नहीं कर सकीं; और मुझे तुम्हारे मन की इस धारणा ने ही चोट पहुँचायी।

तुम्हें शायद याद हो, मैंने कितनी दफा तुम्हें यह बतलाया कि मेरे लिए उस स्तर पर अब प्यार करना असम्भव-सा ही है, जिस पर किशोर या प्रयस्क-किशोर प्यार करते हैं। भावुकता और आवेश पर तर्क और बुद्धि ने अंकुश जमा रक्खा है। मैं तुम से आवेशात्मक आनन्द न चाह कर बौद्धिक चेतना का साहचर्य ही चाहता रहा हूँ। मैं शायद इसीलिए तुम्हें अपने विचारों से बराबर अवगत करता रहा। तुम्हें बनाना रहा कि संसार और जीवन के प्रति मेरा दृष्टिकोण वस्तुवादी है। वस्तुवादी दृष्टिकोण को मैं तुम्हारे शब्दों में ज्ञान-मार्ग कह सकता

। ज्ञान की वह विदग्ध हठवादिता भी मुझ में नहीं जो परोपदेशवादी भौतिकवादियों में होती है। मैं सर्वज्ञानी की भाँति न कभी यह कह सकता, न मान सकता कि मनुष्य आज 'पा लिया !' कह सकेगा, या कभी भी। मैंने बुद्धि अथवा ज्ञान-मार्ग का चरम लक्ष्य ज्ञान या बुद्धि के विस्तार में ही देखा है। कमजोरियाँ, श्रुतियाँ ऐसी चीजें हैं जो वस्तुवादी दृष्टिकोण में रोड़े की तरह अटकाव पैदा करती हैं। उनसे ऊपर उठना आसान नहीं। बुद्धि-मार्ग वह निःसंगता देता है जिससे तुम उन से ऊपर उठ कर संपूर्ण को एक दृष्टि में अँठा कर देख सको। बिना इसके वस्तुवादी दार्शनिक तत्वों के आधार पर चलने पर भी दृष्टिकोण दूषित रह जायगा ही, कारण, उसे अबलम्ब के लिए आवेशात्मक प्रतिक्रियाओं की आवश्यकता पड़ती रहेगी। बुद्धिवादी होने के नाते ही मैं तुमसे ईमानदारी के साथ कहना रहा हूँ कि मुझे ईर्ष्या नहीं होती।

अभी मेरी आँखों के सामने हम लोगों की मित्रता की वह अवधि घूम रही है जो हमारी पहली मुलाकात से शुरू हुई थी। उस दमनर में हम आठ-दस जनो

विभा को एक पत्र

बैठे !” उसके लिए इसका मोह छोड़ सकना सबल नहीं था ! पुरुष विजय चाहता है; वह मूलतः बर्बर ही है ! तुमने, नारी ने, उसे विजयोपहार दिया था ! दर्प से उसके चेहरे का रक्ताभ होकर खिल उठना सहज ही था । तुम कहती गयी थीं, शायद अपनी घबराहट को छिपाने के लिए—मैंने आप से चाय मांगी है, नहीं पिलायेंगे क्या ?

वह इस निकटता का मोह छोड़ नहीं सका और उसी तरह तुम्हारी बाँह की रोक का, मन-ही-मन, स्वागत करते हुए कहता रहा—“अजी, बनाइये नहीं; मुझे पूरा पता है, कौन मेरा कितना साथ चाहता है ..चाय अभी मगवाना हूँ; जरा सुन आने दीजिये तो !”

यह नहीं कि वह मेरे पास आने को इतना उत्सुक था । यदि ऐसा होता तो मैं उसे विकृत मस्तिष्क ही मानता । तुम जानती हो, सामाजिक चेतन को, कभी कभी कुछ अच्छा लगने पर भी, उसके उपभोग के लिए बहाना चाहिये, अन्यथा वह वस्तु अच्छाई मात्र से ही उपभोग्य नहीं होती, सभ्यता का ऐसा तकाजा है ! वह भी एक बहाना चाह रहा था कि इस निकटता का, जहाँ तक सम्भव हो, उपभोग करना रह सके—वह आना चाहेगा तो तुम रोकोगी ही । फिर भी तुम कहती हो, परिस्थितिबश तुम उससे बातें करती रहीं, मिलती-जुलती रहीं ।

उसी दिन विश्रामभवन में तुम भी बैठी थीं, निर्मल भी था, और लोग भी थे । दोपहर की चाय पी लेने के बाद, और लोग अपनी मेज पर काम करने चले गये । मैं भी अपनी मेज पर जा बैठा । शायद ढाई या तीन बजे होंगे । तुम दोनों वहीं बैठे रहे और बातें करते रहे; और तब तक बैठे रहे जब आफिस खत्म होने के बाद, जमादार कमरा झाड़ने आया । ढाई-तीन घंटे तक तुम लोग वहीं बैठे रहे; तुम्हारी बातें होती रहीं । क्या हुई, मुझे आज तक मालूम नहीं, क्योंकि तुमने कभी आपस की बातें मुझे नहीं बतलायीं ।

दूसरे दिन, मैं एक रोज के लिए बाहर जाने वाला था । बड़े अफसर का आकस्मिक आदेश दस्तर में ही मुझे मिला था । मैंने चाहा, मैं तुम्हें बतलाकर जा सकूँ । मैं सबके बीच में ऐसा नहीं कह पा रहा था, इसलिए मैंने तुम्हें विश्रामभवन में बुलाया । तुम आयीं और आते ही बिना पूछे कि मैं क्या कहना चाहता हूँ बोलीं—“हम दोनों का अकेले बैठ कर यहाँ बात करना ठीक नहीं, लोग क्या कहेंगे !” मेरे प्रति तुम्हारे इस व्यवहार का तर्क समझ मैं नहीं

आया, आज भी नहीं आता, विशेषकर इस रोशनी में कि तुम मुझे प्यार करती थीं; करती हो, करती रही हो।

विभा, मेरे और तुम्हारे बीच मित्रता किस तरह बढ़ी थी? धीरे-धीरे-धीरे तो? शुरू में हम एक-दूसरे से अपरिचित की ही भांति रहे। उस समय तक तुम निर्मल से काफी घनिष्ठ हो चुकी थीं। फिर धीरे-धीरे हम एक-दूसरे से मिलने लगे और कुछ समय के बाद पाया कि हम एक-दूसरे को प्यार करने लग गये हैं। तुम मुझे प्यार करती हो, इसे भी तुम नहीं मानतीं, अगर मैं तुम्हें बार-बार बतलाकर इससे आगाह न कर देता। लेकिन शायद तुम इसे नहीं मानतीं। जानती हो, मैं ऐसा क्यों कहता हूँ?

तुम्हें याद है, एक शाम हम चाँदनी रात में मैदान के चारों ओर घूम रहे थे। काफी वक्त तक घूमते रहे। उसी रात, प्रथम बार, अनजाने ही हम जान सके कि हम दोनों एक-दूसरे के लिए महत्वपूर्ण हो उठे हैं और हम दोनों का अस्तित्व एक-दूसरे के लिए है। मैंने स्पष्ट शब्दों में कहा था, 'विभाजी मैं आपको प्यार करता हूँ।' शायद जिस भावना को मैं व्यक्त कर रहा था उसके अनुरूप मेरी वाणी में कम्पन नहीं था, मेरी सांस तेज नहीं थी, कहीं घबराहट नहीं थी। मैंने उस सत्य को उतने ही यथार्थ ढंग से कहा था जितना यथार्थ था उस रात का होना, चाँदनी का होना, सामने का मैदान। तुमने चौंक और घबराकर कहा था, 'यह आप क्या कह रहे हैं?'

“सत्य।”

“अरे नहीं, छोड़िये इन बातों को। मैं ऐसी बातें सुनने की आदी नहीं।”

‘मैं इस तरह दुतकारा जाने का भी आदी नहीं, विभा जी।’

‘छोड़िये न इन बातों को। यह सब गन्दी बातें हम नहीं करेंगे। कितनी अच्छी तरह हम घूम रहे हैं। क्या पुरुष और नारी प्रेमी-प्रेमिका होकर ही रह सकते हैं? क्या भाई-बहन का नाता कम प्रिय, कम अपना है?’

तुम्हारी बात में क्रोध का लेश भी था। शायद तुम मुझे असभ्य समझ रही थीं। मैंने प्रत्युत्तर में कहा था, विभा जी मुझे छः बहनें हैं, सहोदरा। उस सूची में सातवीं जोड़ने की मेरी कनई खाहिश नहीं। इस चाँदनी में, इस फैले हुए आकाश के नीचे, इस पृथ्वीकी तरह ही, यह ठोस और एकान्त सत्य मेरे मन में आ बैठा है। मैंने सच्चाई कह दी। अब आप मुझसे मिल सकें, मिलें; अन्यथा मुझे कोई शिकायत नहीं।”

विभा को एक पत्र

के बीच नारी केवल तुम थीं। प्रारम्भ में मैं तुम से बातें न कर सका। 'नारी' मात्र नारी होकर मुझे आज तक आकर्षित नहीं कर सकी है। 'नारी' अपने नारीत्व के गुणों से निःसंग होकर हमारे लिए महत्वपूर्ण है, होती रही है। प्रारम्भ में मैं इसी कारण तुम्हारा सामीप्य नहीं पा सका। उस समय यदि निर्मल के शिष्ट व्यवहार ने तुम्हें दफ्तर के नयापन को भुला देने में सहायता दिया, तो उसे अग्राह्य नहीं होना था, इसे मैं मानता हूँ। लेकिन क्या यह भी माना जा सकता है कि तुम दोनों के परस्पर व्यवहार के लिए यह कारण ही आधार रहा बराबर? शायद नहीं। इस परिस्थिति का भी एक तर्क बना अवश्य, और वह अपनी निष्पत्ति की ओर भी बढ़ा। कारण, वहीं-का-वहीं रह जाना सम्भव नहीं। गतिशील है वह। परिस्थिति एक जगह ठमक कर नहीं रह सकती, रही थी भी नहीं।

पहली दृष्टि काव्यगत सत्य हो सकती है, वास्तविक नहीं—चक्रोर का अंगार खाना, जैसे। पड़ली दृष्टि को, सच मानो, तुम चाहो तो निम्नतम प्रतिरोध का मार्ग भी कइ ले सको। और मान भी लूँ कि तुम्हारे और निर्मल के बीच यही कारण, तुम्हारी ओर से, रहा हो, तो क्या बाद की घटनाओं के सामने वह कारण टिक पाता?

मैं तुम से पूछता हूँ कि जिन कारणों के चलते तुम अपने और निर्मल की मैत्री को न्याय्य सिद्ध करती हो, उन्हीं के आधार पर दफ्तर के अन्य सहकर्मियों से तुम्हारी मैत्री क्यों न हुई? अगर आज मैं फिर दोहराऊँ कि निर्मल के प्रति तुम्हारा व्यवहार काफी विशिष्ट रहा है, तो रन्ज तो मत मानना! और उस विशिष्टता को हम अकारण नहीं मान सकते। तुम भी मेरा दृष्टिकोण अपना सकती थीं। लेकिन बतलाऊँ, कारण क्या है कि तुम इसमें अपने को असमर्थ पाती हो? तुम्हारे चेहरे को, जो परम्परागत नैतिक मूल्यों से प्रभावित है और जिसे वे मूल्य प्रायः हैं, इस विचार मात्र से ही असन्तोष है कि वह माने कि उसे एक ही समय दो व्यक्तियों के प्रति आकर्षण है। इसे मानने में उसे आशंका है कि वह आदर्श से द्युत हो रहा है। परन्तु अकारण ही किसी घटना का होना मुझे भी प्रायः नहीं। यह और बात है कि हम अपनी सीमित बुद्धि से उसके कारण को ढूँढ़ न पायें।

तुम्हें उस दिन की बात याद है? मैं, तुम, निर्मल और कुछ अन्य लोग बैठे हुए थे। तुमने कहा, निर्मल सा'ब, चाय नहीं पिलायेंगे?

“कोई पीना भी चाहे।” निर्मल ने शोख हँसी के साथ तुम्हें जवाब दिया था।

“अजी, मंगाइये तो,” तुमने कहा था।

और मैंने जब कहा था, “भाई निर्मल, पीना जो चाहता रहा है, उसे तुमने चाय बराबर पिलायी है और वह पीता रहा है। आज यह पैना क्यों ? तो निर्मल ने कितने आहत स्वर में कहा था, “ओप जब सामने हों तो फिर मेरी पूछ कहां है।” वह हँस कर बोला था जरूर, लेकिन क्या तुमने ध्यान नहीं दिया था कि वह हँसी कितनी रोनी-सी थी। टीस भरी हुई। मैंने तुम्हारी तरफ देखा था। तुम्हारी आँखें नीचे की ओर झुकी हुई थीं। तुम निर्मल का मतलब जरूर समझ रही थीं,—तुम मानो, न मानो, लेकिन उसी शाम को जब मैंने यह बतलाना चाहा, तो तुमने बात को बहला देने की कोशिश की। कारण मैं समझ रहा था। वह कुछ अस्वभाविक भी नहीं था। आदर्श और यथार्थ के बीच का द्वन्द्व प्रिय नहीं होता। लेकिन यथार्थ, यथार्थ होने के कारण ही आदर्श से ज्यादा मजबूत और तेज होता है। उस यथार्थ का सत्य तुम्हें चुभ रहा था। तुमने टालना चाहा। लेकिन मुझे पहचानते हुए भी ऐसी कमजोरी क्यों है तुम्हारी ?

उसी दिन, इस बात के बाद, जब हमलोग विश्रामभवन में बैठे हुए थे और चाय पी रहे थे, तुम बाहर मेज पर बैठी काम कर रही थीं। तुम्हारी बगल की कुर्सी पर निर्मल भी था। उसे अन्दर न आते देख मैंने सोचा, शायद मैंने उसे नहीं बुलाया इसलिए वह नहीं आ रहा है। मैंने तब पुकारा था —“निर्मल साँब, चाय पीने तशर्राफ नहीं लायेंगे क्या।”

पर्दे के कोने से तुम और निर्मल नजर आ रहे थे। निर्मल जब उठ कर आने को हुआ तो तुमने क्या किया, याद है ? तुमने अपनी दायाँ बाँह फैलाकर निर्मल को सामने से रोक लिया। निर्मल के लिए तुम्हारे शरीर का ऐसा सामीप्य अप्रत्याशित था। वह झटके से उठा था। वह तुम्हारी फैली हुई बाँह पर भार देता हुआ रुक गया था। मैं उसके चेहरे पर आते-जाते भावों को पढ़ रहा था। एक क्षण को वह लजा गया था शायद, इसलिए कि वह दम्रत था, इतने लौग थे, पुरुष और नारी का ऐसा व्यवहार शायद, सभ्यता की कसौटी पर, गौपन ही रहना चाहिये। दूसरे ही क्षण, तुम्हारा इस तरह से उसे रोकना, विशेष कर मेरी उपस्थिति में, और यह कहना “नहीं, मैं नहीं जाने दूंगी; मेरे पास भी तो कोई

एक सहारा

खुला है ? पूछा—“नरेन दा, आपका होटल अभी तक खुला कैसे है ? अन्य होटल तो बंद हो गये हैं या बंद होते जा रहे हैं ।” उन्होंने वैसी ही गिरी-सी और गम्भीर आवाज में कहा—“मैं होटल कभी बंद नहीं करता ।”

मैंने देखा, और दिनों की अपेक्षा, नरेन बाबू आज कुछ अजीब ‘मूड’ में हैं । आगे बान करने का साहस नहीं हुआ । मैं सोचता रहा, नरेन बाबू की इस उदासी और रुखाई का कारण क्या हो सकता है । मुझे चुप देखकर उन्होंने स्वयं पूछा—“कड़िये, आर्डर दे दिया ?”

“नहीं तो ?”

“क्या कढ़ीं और चाय पी ली है ?”

‘कढ़ी पी है, नरेन बाबू !’

तभी उन्होंने घंटी बजायी । लड़के के आ जाने पर कहा—‘बाबू को चा’ दे ।’

काफ़ी गर्म कपड़ों से ढके रहने पर भी, और चाय की गर्मी के पेट में जाने पर भी, मुझे ठंड ज्यादा मालूम हो रही थी और चाय के हर घूँट के साथ मैं इसीलिए नरेन बाबू की लाल कोयलों वाली सिगड़ी की ओर बार-बार ललचाई निगाह से देखता जाता था । नरेन बाबू अपने सामने चीड़ की घनी भाड़ियों में जाने क्या देख रहे थे । थोड़ी देर के बाद उन्होंने मेरी ओर निगाह उठायी । फिर बोले—‘ठंड ज्यादा मालूम हो रही हो तो यहां कुर्सी खींच लो । चाय भी पीना और सिगड़ी भी तापना ।’

मैं कुर्सी उनके पास ले गया । आग की गर्मी भली लगी । कुछ बात-चीत करने को जी भी हुआ । मैंने काफ़ी सहमते हुए कहा , “नरेन बाबू, आज की राह तो मैंने और कभी आप को नहीं देखा । बात क्या है ?”

उन्होंने एक लंबी सांस ली । फिर कहा—“तुम्हें शायद बात समझ में आ जाय इसलिए बतला दूंगा । जानते हो विरह-वेदना किसे कहते हैं ?”

मुझे हँसी आने को हुई । मैंने समझा, नरेन बाबू मज़ाक कर रहे हैं । बंगला में जवाब दिया, “आमी जानी ना, मशाइ ।”

‘नहीं-नहीं, हँसो नहीं । तुम्हारी उम्र में शायद लोग विरह वेदना नहीं

जानते; या जानने पर भी खूब इतना नया और जोशीला होता है कि नयी प्रेयसी ढूँढ़ लेते हैं। लेकिन मेरी उम्र में विरह वेदना कभी-कभी उसी तरह आती है, जिस तरह मौत; कभी साथ फिर छोड़ती नहीं।”

मैंने अब समझा, नरेन बाबू आज किसी पुरानी स्मृति से आलोड़ित हो रहे हैं। मैं कुछ बोला नहीं। वे ही कहते गये—भाई, आज से कोई आठ-दस साल पहले की बात है। उस समय मैं कोई चालीस के करीब का रहा होऊँगा, साल एक दो कम ही रहा होऊँगा। उसी समय की यह घटना है जो मैं तुम्हें बतला रहा हूँ।

होटल मैंने आज से कोई बीस वर्ष पहले यहाँ खोला था। लक्ष्मी की कृपा रही, खूब कमाता गया। यहाँ तक कि यह बंगला मैंने खरीद लिया। बैंक में एक मोटी रकम रख दी, लेकिन जीवन, लगभग दस साल की कड़ी मिहनत के बाद, कुछ अब से भरने लगा। तुम्हें शायद नहीं मालूम, मेरा अपना कहाने वाला लड़कपन से ही कोई नहीं था, न आज तक कोई हुआ। ..

नरेन बाबू कुछ क्षण चुप हो गये। फिर उन्होंने पुकारा —“ओ रे रामा, मुझे भी एक कप चा’ दे जा। तुम भी लोगे ?”

“जी नहीं, छोड़िये।”

“ले लो, सदीं तो काफी है।”

“अच्छा।”

“रामा, दो कप लाना।”

उन्होंने फिर कहना शुरू किया, मैं तीन साल की उम्र से ही माता-पिता-विहीन हो गया था। मुझे दूर के किसी रिस्तेदार ने ग्यारह साल तक पाला। उन्हें मैं काका-काकी कहता था। फिर अपर्याप्त भोजन और लगातार मलेरिया से वे भी ज्यादा दिन नहीं चल सके। तब कलकत्ते में एक होटल में ‘बाय’ का काम करने लगा। गाँव के ही एक भले आदमी थे जिन्होंने वहाँ काम दिलवा दिया था। फिर कुछ वर्षों के बाद, उम्र, और कलकत्ते की हवा ने कुछ व्यापार-कुशलता मुझ में भर दी। मैं एक अपना वहीं छोटा सा चा’ खाना खोल बैठा। लाभ हुआ। सभी लोगों ने राय दी कि गर्मियों में होटल अगर

विभा को एक पत्र

लेकिन, तुम मिलती रहों। और एक दिन जब हमारे सिर पर पूर्णिमा का चाँद खिल रहा था, सिरहाने के नीम की पत्तियाँ हवा के मीठे झोंकों पर सरसरा उठती थीं, मैंने तुम्हें ढाई हजार वर्ष पुराने उस नालन्दा के खंडहरों के द्वार पर कहा—“विभा, तुम और मैं, मैं और तुम, युग-युग से, इन पच्चीस-सौ वर्षों से, इससे भी पहले से, एक दूसरे के होकर रहते आये हैं।” हँह ! मैं उस दिन क्षण भर के लिए भावुक हो उठा था !

लेकिन, उसी दिन तुम्हें मेरे प्यार के सत्य का पता चल गया था। तुम मानने लगीं कि शायद जब से हम-तुम मिले, तुम्हारे जी में मेरे लिए जगह बनने लगी थी। तुमने उसे मैत्री की संस्कृत संज्ञा दी। लेकिन विकास के उसी क्रम में पनपे अपनी और निर्मल की मैत्री को परिस्थितियों की बाध्यता मानती हो; निरा, भावनाविहीन, परिचय मात्र ! लेकिन उसी निर्मल की चर्चा मेरे मुँह से तुम्हें रुझ नहीं।

तुम मुझे यह बतलाना चाहती रहों कि प्यार एक ही से किया जा सकता है। शायद यह आदर्श है जिसमें मानव की सभ्यता अपनी परिष्कृति देखती है। लेकिन इससे अलग जो सत्य है, इससे अलग होने के ही कारण, गिरा हुआ नहीं। क्या तुम मानोगी कि जो सत्य है वह गिरा हुआ हो ही नहीं सकता !

मैं चाँहूँगा कि तुम निर्मल और अपने बीच की भावना को ठीक-ठीक पहचान लो। मैं रहूँगा तो तुम्हारे इस प्रयत्न में बाधक बनूँगा। इसलिए मुझे जाना ही चाहिये, और मैं चला जा भी रहा हूँ। मैं जा रहा हूँ कि मेरे प्रति जो आवेशात्मक भाव तुम्हारे हैं, वे अब और तुम्हारी बुद्धि को आच्छन्न न किये रहें। मैं तुम से दूर बैठूँ, तुम्हारी याद किया करूँगा। निर्मल को खुश कर लो, प्यार कर लो। जानता हूँ, एक दिन तुम्हें मेरी जरूरत होगी। मैं ठहरा रहूँगा। उस दिन, जब तुम अनुभवों से पूर्ण आओगी, मैं तुम्हें कह सकूँगा, आओ विभा रानी ! और, फिर शायद तुम्हें कहीं जाने की, किसी अनुभव की, आवश्यकता नहीं रह जायगी।

तब तक के लिए विदा !

चिरस्मृति और आशा लिये हुए—

श्रीश।

सैंतीस

एक सहारा

जाड़े की शुरुआत से ही शिमला धीरे-धीरे वीरान होने लगता है। मुझे उन दिनों वहाँ कुछ ज्यादा काम रड़ गया था, पैसे वौरह अधिक फंसे रह गये थे। इसलिए मुझे वहाँ यात्रियों के लौट जाने के बाद भी रुकना पड़ गया।

अब, चूँकि सैर सपाटों में आये हुए लोग वापस हो गये थे, नरेन्द्र राय का होटल भी वीरान रहने लगा था। मैं बराबर उन्हीं के यहाँ नाश्ता-खाना-चाय, सभी किया करता था, इसलिए उनसे काफी जान-पहचान हो गयी थी।

उस दिन शाम को मैं चाय पीने जरा देर से पहुँचा। देखा, अपने टेबुल के पास सिगड़ी में आग जलाये वे बैठे ऊँघ रहे हैं। कमरे में सन्नाटा छाया था। नौकर सभी शायद बाबर्चीखाने में बंटे आग ताप रहे थे। मेरा भी जी थका हुआ था। एक मेज पर बैठते हुए मैंने कहा — ‘नरेन बाबू, आज बहुत शाम ही से ऊँघ रहे हैं, क्या बात है ?’

“नहीं महाशय, ऊँघ नहीं रहा हूँ। उनकी आवाज में काफी दर्द था ! लगा, जैसे वे कुछ उदास हों।

मैंने फिर पूछा—“तबीयत तो ठीक है ? उदास क्यों हैं ?

एक ठंडी सांस छोड़ कर उन्होंने कहा, “नहीं जी, उदास क्यों होऊँगा !”

मेरे मन में आया, निज़ारती आदमी, शायद इस वर्ष मुनाफ़ा ठिकाने का न हुआ हो। और अब होटलों के लिए तो निहायत ही ‘डल सीजन’ हो गया है, शायद इसीलिए उदास हों। तभी मुझे खयाल आया कि शिमले में जाड़ों में अधिकांश होटल तो बंद हो जाते हैं; नरेन बाबू का होटल क्यों अब तक

एक सहारा

शिमले ले चला जाय तो कुछ अधिक लाभ हो। आज अगर ऐसी बात कोई कहे तो मैं स्वयं ही उस पर हँस दूँ। लेकिन उस समय तो थोड़ी-बहुत सफलता मिली थी; तबीयत दून पर थी। यहाँ एक होटल खोल दिया, यही। फिर यहाँ भी अच्छा-खासा लाभ हुआ। शुरू के दो साल तो मैं जाड़ों में कलकत्ते वापस चला जाता था। होटल बंद कर देता। लेकिन तीसरे, या शायद चौथे, साल में वह घटना घटी जिसने मुझे शिमलावासी बना दिया।***

वह फिर जैसे सामने के फैले अंधकार में कुछ दृढ़ने-से लगे। कुछ देर चुप रहे। कमरे में गहन सन्नटा रहा। फिर खुद जैसे उनकी नींद खुली हो, वे बोले—उस दिन भी ऐसी ही संख्या थी। कमरे में सन्नटा था। और लड़के भीतर आग ताप रहे थे। मैं यहीं बैठा-बैठा सोच रहा था कि एक दो दिनों में होटल बन्द कर दूँगा। तुमने शायद खयाल किया हो, बारात के लौट जाने पर घर सहसा ही बड़ा नीरस लगने लगता है; उसी तरह शिमला भी लगता है। सारी चहल पहल धीरे-धीरे गायब हो जाती है। मैं उस दिन उसी नीरसता को बड़े तीखे ढंग से महसूस करता हुआ बैठा था। शायद आठ बज गये होंगे। तभी बड़ी तेज हवा चलने लगी और बर्फ गिरने लगी। मैंने इस कमरे के सारे दरवाजे बन्द कर दिये, और यहीं मेज के पास आग जलाकर मैं अकेला बैठा अपने व्यवसाय की उलझनों पर सोचना रहा। करीब आधा घंटा बीत गया होगा कि सहसा ही दरवाजे पर किसी के अन्धाधुन्ध दस्तक देने की आवाज आयी। मैं अपने विचारों में डूबा हुआ था। चौंक पड़ा। फिर खयाल आया, कोई 'कस्टमर' आया होगा, या कोई इस तेज हवा और बर्फ से घबराया राहगीर होगा जो इस परेशानी से बचाव चाहता होगा। उठा और दरवाजा खोल दिया, और वहीं-का-वहीं खड़ा रह गया।

वह कोई राहगीर न था, कोई 'कस्टमर' भी नहीं था। वह एक लड़की थी, यही चौदह-पन्द्रह के करीब की! सूखी लकड़ी सी, सांवली और दुबली पतली। वह आँधी और बर्फ से निहायत ज्यादा परेशान-सी लग रही थी। साँस धौंकनी की तरह चल रही थी उसकी। कपड़े, तन ढकने को भी काफी न थे; भला इस बर्फ से क्या बचा पाते वे!

मैंने कहा, अन्दर आ जाओ। लेकिन शायद उस समय तक वह दोश और बेहोशी के बीच वाली सीमा पर थी। चल नहीं पायी। मैंने अपने हाथों का

सहारा दिया और उसे कमरे के भीतर करके दरवाजा लगा दिया। फिर इसी कुर्सी पर ला बैठाया और आग को उसके और पास कर दिया। कुछ मिनटों के बाद शरीर जब उसका कुछ गर्म हुआ तो उसने आँखें खोलीं, और तब वह बोली— क्षमा करेंगे। और कहकर वह उठना चाहने लगी।

मैंने कहा—बैठो-बैठो। मैं उसे बैठाकर अपने कमरे से एक धुली चादर ले आया और उसे ढकते हुए पूछा—दूध पियोगी ?

सच मानो, उसकी आँखों में, मेरे प्रश्न करने से, ऐसा आश्चर्य का भाव भर आया कि मैं तो अवाक् हो गया।...

खैर, तो वह उस दिन से मेरे यहां ही रहने लगी। दूसरे ही दिन उसने बतलाया, पटने के किसी बड़े अफसर के साथ वह यहाँ आयी थी। बंगाल की ही है, पूर्व बंगाल की। उन अफसर का घर भी पूर्व बंगाल में ही पड़ता था। वे उसे वहाँ अपने साथ ले गये थे। वह अनाथ थी और घोषाल जाति की थी। साहब की मिसेज उसे बहुत सताया करतीं, यह जानकर कि इसे पनाह और है कहां ! यहां लाने पर उसकी एक छोटी-सी गुस्ताखी से चिढ़ कर वे उसे घर से निकाल बैठीं। बेचारी चार-पांच दिनों तक तो मांग-चूंग कर खाती रही। उस दिन शाम को मांग कर लौट रही थी कि कहीं रात भर बिता लेगी; कि यह आंधी उठी और बर्फ गिरने लगी। नरेन बाबू फिर चुप हो गये।

मैंने पूछा, फिर क्या हुआ ?

क्या हुआ ? वह मेरे पास ही रहने लगी।

उस समय नरेन बाबू की आँखों में ऐसी गहरी वेदना भर उठी कि लगा, वे आँखें किसी विक्षिप्त की हों।

तो आपने उसे पटने वापस जाने को या पूर्व बंगाल ही जाने को किराये के पैसे क्यों नहीं दे दिये ?

दो-तीन दिनों तक तो वह अस्वस्थ रही। मुझे तो आज भी आश्चर्य है कि उसे उस दिन निमोनिया कैसे नहीं हो गया। दो-तीन दिनों तक तो उसके जाने की बात ही नहीं उठ सकती थी। चौथे दिन मैंने उससे पूछा, लक्ष्मी, तुम पटने जाना चाहती हो या घर ?

मेरे प्रश्न से उसकी बड़ी-बड़ी गोल आँखों में वैसे ही भाव आये जैसे किसी दुखार जानवर को देख कर हिरनशावक की आँखों में आते होंगे। फिर तो मुझे प्रश्न करने का साहस ही न हुआ। मैं कुछ देर चुप रह कर सिर्फ इतना तो कह सका, क्या कहती हो ?

कहाँ जाऊँगी मैं ?

मैं क्या जवाब देता ! चुप रहा। वह कहती गयी—मुझे यहीं रहने दो, काम करूँगी; मैं खूब काम कर सकती हूँ।

मैंने मान लिया।

धीरे-धीरे मैंने देखा, वह सचमुच बहुत काम कर सकती है। कुछ हिसाब-केताब भी रखना जानती थी। हफ्ते भर के अन्दर ही देखा, होटल की सारी चीजें व्यवस्थित रहने लगीं। जाने कैसे, धीरे-धीरे वह सारे होटल की अनायास अधिकारिणी बन गयी। दिन-रात काम करती रहती। बाबचीं और नौकरों पर भी निगरानी रखती। एक पैसे की चीज भी बरबाद नहीं होने देती। और आश्चर्य की बात तो यह थी कि न मैंने ही, न नौकरों ने ही, कभी इस बात को ग़ौर से किया कि वह हम सभी पर हुकूमत कर सकती है, या कर रही है।''

कुछ दिनों के बाद मैंने उससे कहा—लक्ष्मी, अब तो 'सीज़न' एकदम खतम हो गया। अब हमें तो कलकत्ता लौटना पड़ेगा।

क्यों ?

अब यहाँ होटल रखकर क्या करेंगे ? फिर अगली गर्मियों में आया जायगा।

तो मुझे भी कलकत्ता जाना होगा ?

यह प्रश्न मेरे लिए अप्रत्याशित था। कुछ सोचकर मैं बोला—जैसी तुम्हारी इच्छा। वह भी कुछ क्षण तक चुप रही। चेहरे पर कुछ ऐसे कष्टाजनक भाव आये कि मैं क्या कहूँ। मैंने सांत्वना के शब्दों में कहा—घबराओ नहीं लक्ष्मी, अगर तुम्हारी इच्छा कलकत्ता जाने की न हो तो तुम जहाँ कहो, वहीं पहुँचा दूँ।

नहीं, चलूंगी क्यों नहीं ?

रात के करीब नौ बजे जब मैं सोने के कमरे में गया तो वह आयी और उसने पूछा—कब चलना होगा ?

कल बतलाऊंगा, अभी छोड़ो इन बातों को ।

मेरे सर में उस दिन बड़ा दर्द हो आया था । इसलिए शायद मेरी आवाज में दर्द के कारण कुछ रुखाई थी ।

उसने कहा—आप मेरे ऊपर नाराज मत होइये, मैं चलूंगी ।

मैंने कहा—नहीं, नहीं लक्ष्मी, मैं तुम पर नाराज नहीं हूँ । हाँ, सर में थोड़ा दर्द हो आया है । शायद ठंड लग गयी है । जाओ अभी सो रहो, कल सुबह हमलोग चलने के बारे में सोच लेंगे ।

“अच्छा” कहकर वह चली गयी । मैं भी करवट बदलकर सोने की कोशिश करने लगा । कोई पंद्रह मिनट के बाद मैंने आँखें खोलीं । देखा, लक्ष्मी गर्म-गर्म दालचीनी पीसकर मेरे ललाट पर लेप चढ़ा रही है ।***

जीवन में महाशय, नारी का वह पहला स्पर्श था जिसे मैंने जाना । उसका क्या कोई वर्णन कर सका है ? मैं तो अभिभूत हो उठा । मैंने कहा—लक्ष्मी, इतना क्यों परेशान हो रही हो ? जाओ सो रहो, थोड़ी देर में नींद आ जायगी तो दर्द भी ठीक हो जायगा ।

“अच्छा जानी हूँ ।” कहकर ही उसने मेरे सर में तेल मालिश करना शुरू किया । माँ-बाप बचपन में ही मर गये थे । कभी इतना स्नेह तो मिला नहीं था । मैं बेचैन हो उठा । मैंने बड़ी कड़ी आवाज में कहा—लक्ष्मी छोड़ दो ।

“नहीं”, उसने बड़े संयत स्वर में कहा ।

अब मैं क्या करता ! चुप पड़ा रहा । लक्ष्मी सर में मालिश करनी रही । थोड़ी देर के बाद उसने बड़ी धीमी आवाज में कहा, अगर मैं कलकत्ता न जाऊं तो ?

तो जहाँ चाहो, वहाँ तुम्हें रख दूँ ।

चौबालिस

एक सहारा।

यहीं, शिमले में ।

किसके पास ?

अपने पास ।

अरे ! मैं तो चला जाऊंगा !

तुम नहीं जाओगे, मुझे अपने पास रखोगे ।

धीरे धीरे मुझे लक्ष्मी के इस 'तुम' का और 'अपने पास रखोगे' का अर्थ स्पष्ट होने लगा । मैंने पूछा—तो तुम कइनी हो, मैं कलकत्ते न जाऊं ।

नहीं ।

दूसरे दिन लक्ष्मी ने सभी नौकरों को तीन-तीन महीने का अग्रिम हिसाब देकर विदा कर दिया । सिर्फ एक को उसने रद्दने दिया - बोली, एक नौकर का काम तो रहेगा ही ।

मैं चुप देखता रहा । लक्ष्मी घर सहेजती रही । वह दिन भर घर सहेजने में इतना व्यस्त रही कि रात के नौ बजे तक भी उसे मुझसे कुछ बात करने की फुर्सत नहीं मिली । मैं उठा और सोने के कमरे में चला गया । देखा, बिछावन, और दिनों की अपेक्षा, आज ज्यादा करीने से लगाया गया है । चारपाई की बगल में एक बड़े पिरिच में गर्म-गर्म पानी भी रखा है । पानी देखकर मैंने पुकारा, राधो !

जी ।

पानी क्यों रख गया है ?

जी, उन्होंने कहा था ।

क्यों ?

राधो तबतक झटपट चला जा चुका था । मैं बिछावन पर लेटना ही चाहता था कि लक्ष्मी आँचल को गले में बाँधे अन्दर आ गयी । वह उस समय मुस्कुरा रही थी । बोली—ठहरो ।

क्या है ?

एक आरमकुसी को मेरी और खिमकाते हुए बोली—इस पर बैठो ।

पैंतालिस

मैं बैठ गया। तब वह उस पिरिच के गर्म पानी से मेरे पांव धोने लगी। मैंने पूछा, यह क्या सूझा है तुम्हें लक्ष्मी ?

इससे नींद अच्छी आती है, और पाचन भी बढ़िया होता है।

ठंड में गर्म पानी भला मालूम हुआ। मैंने आँखें बंद कर लीं और धीरे से पूछा—लक्ष्मी, तुम मुझे 'तुम' क्यों कहती हो ?

फिर क्या कहूँ ? आप ?

क्यों ?

“अच्छा यही कहूंगी।” कहकर वह खिलखिलाकर हँस पड़ी।

वह पूर्णिमा की रात था। मैं सिनेमा से जरा देर करके लौटा था। घूमता-घामता आया था। लक्ष्मी मेरी चारपाई की बगल में तिपाई पर मेरा खाना रखकर ऊँघ रही थी। बोली—कहाँ घूमते रहे, देखो तो खाना ठंडा हो गया है।

कसूर मेरा था। मैं लज्जित हो कर खाने बैठ गया। उसने फिर पूछा, दाल तो ठंडी हो गयी होगी ? गर्म कर दूँ ?

नहीं, ठीक तो है।

आखिर इतनी रात तक बाहर रहने की क्या जरूरत आ रही थी ?

ज्यादा रात तो नहीं हुई है अभी।

साढ़े-दस बज चुके हैं। फिर सर्दी कैसी पड़ रही है ! कहीं ठंड लग गयी तो ?

तो क्या होगा ?

तुम...तुम पूछते हो क्या होगा ?

मैंने देखा, लक्ष्मी की आँखें डबडबा आयी हैं और गला फंस रहा है। मैं देखता रह गया। आज के पहले मैंने इतनी देर तक उसकी ओर कभी नहीं देखा था। देखा, लक्ष्मी इन दो वर्षों में जुही के फूल की तरह खिल

छियालि स

एक सहारा

उठी है। मेरे सारे शरीर में एक सिहरन-सी दौड़ गयी। गले के नीचे नेवाला नहीं उतर सका। मैं हाथ धोकर उठ गया। लक्ष्मी वैसी ही खड़ी रही। आँखों में अभी भी आंसू की बून्दें छलक रही थीं। उसने दैसे ही रुधे कठ से पृच्छा—खाया क्यों नहीं?

खाया तो।

कुछ तो नहीं खाया। अब मुझे ऐसा ही जवाब सुनने को मिला करेगा, क्यों?

मैं सोचता रहा, क्या जवाब दूँ, कि वह फिर बोली—अच्छा तो आज कोई नहीं खायेगा घर का। और झटके से वह कमरे से बाहर चल गयी।

मैं आधे घंटे तक हतप्रभ अपने बिछावन पर पड़ा रहा। सोचता रहा, अब उसे कैसे समझाऊँ कि मैंने इतना खाया, इतना अघा गया हूँ मैं, कि मेरा रोम-रोम भर रहा है! साथ ही जी घबरा भी रहा था, कहीं लक्ष्मी सचमुच ही भूखी सो रही तो? और फिर राघो को भी वह भूखा ही छोड़ देगी। मैं उठा। एक दो कमरों से होता हुआ लक्ष्मी के कमरे में गया। देखा, वह वहाँ नहीं है। सोचा, शायद बाबचीं खाने में हो। वह वहाँ भी नहीं थी। तभी मैंने इस कमरे में आकर आवाज दी—राघो!

“जी।” कहता हुआ वह आया।

लक्ष्मी कहाँ है?

उस तरफ की बालकोनी में हैं।

वह बालकोनी इस कमरे के ऊपर वाले कमरे से लगा है। वहाँ सामान वगैरह रहता है। मैं गया। देखा, लक्ष्मी बालकोनी से बाहर, एक खाई में उगे चीड़ों के घने झुरमुट को एक टुक ताक रही है। वह स्वयं चाँदनी से शराबोर हो रही थी। बाल जैसे गीले हों, कंधे पर फैल रहे थे। उसने उजली धोती पहन रखी थी। मैं मुग्ध होकर उस मूर्ति को कुछ क्षण देखता रहा। फिर जाने किस आकर्षण से मैं उसकी ओर खिंचता चला गया। पास जाकर बोला—लक्ष्मी!

वह चौंककर मेरी ओर मुड़ी। मैंने देखा, उसके बाल आँसुओं से भीगे हैं।

सैतालिस

उस समय मेरा कलेजा चीख-चीख कर कहने लगा, तुम्हें क्या हुआ लक्ष्मी, तुम्हें क्या हुआ ? मैंने पूछा—रोती हो लक्ष्मी ?

वह चुप रही । मैंने तब उसके सर पर हाथ रख दिया रोओ नहीं, मुझे कहो, क्या हुआ ? वह झट बैठ गयी । आंचल से उसने मेरा पांव पोंछ लिया और उसे अपने माथे से लगाते हुए बोली—तुमने मुझे वुला क्यों नहीं लिया ?

मैंने कहा—तुम रोती क्यों हो ?

यह भी क्या तुम्हें पृच्छना है ?

मैं चुप हो गया । तब वह बोली—चलो । मैं उसके पीछे पीछे चला । वह मेरे कमरे में आयी । कहा उसने—अब सो रहो । लाओ मैं सर सहला दूँ । मैंने कहा—जाओ, तुम खाओ; मैं सो जाऊँगा । वह चली । तभी जाने किस प्रेरणा से मैंने कहा—लक्ष्मी, तुम मेरे लिए इतनी चिन्ता क्यों किया करती हो ? वह दरवाजे के पास पहुँच चुकी थी, घूमकर उसने मेरी ओर देखा और आँखों-ओठों से मुस्कुरा दिया । फिर चली गयी ।

मैं बिछावन पर मुन्न सा बड़ी देर तक पड़ा रहा । मेरा अंग-अंग जैसे इतना हल्का, इतना कमजोर हो गया था कि करवट बदलना भी मुश्किल हो रहा था । मैं मन-ही-मन सोच रहा था, कल लक्ष्मी से कहूँगा कि हमलोग अब कभी न अलग रहें, अलग न होंगे । इसी उधेड़तुन में मैं था कि देखा, मेरे बिछावन पर जैसे दूध की धारा वह चली हो ; खिड़की से चाँदनी आ रही थी ।

जाड़े की रात । शिमले की ठंडक । उस पर पूर्णमा की चाँदनी । पहाड़ियों में रह-रहकर कुछ पक्षी चहचहा उठते । जाने मेरा नसाँ में कैसी एक लहर सी दौड़ने लगी । मैंने हजार कोशिश की, लेकिन नींद तो शायद उस रात खार खाये बैठी थी । छटपट करते शायद रात के दो बज गये होंगे कि मेरे मन में एक इच्छा, पानी की भौंरी की तरह, चक्कर काटने लगी । लक्ष्मी को जगा दूँ, जरा सर सहला देगी । और कुछ बातें भी होंगी । लक्ष्मी को जगा दूँ, जगा दूँ ।...

मैं उठ बैठा । आहिस्ता आहिस्ता लक्ष्मी के कमरे की ओर बढ़ा । जाकर देखा, यह क्या, लक्ष्मी वहाँ नहीं थी । मैंने सोचा-सोचा, वह भी मेरे बिना

एक सहारा

बेचैन, इस निशीथ की ज्योत्सना से स्नात, अपने हृदय की पीड़ा को दबाए आँखों में ही रात काट रही होगी। मैं इसी कल्पना में उलझा उसे ढूँढ़ रहा था। सभी वैसे कमरे, जिसमें उसके होने की संभावना थी, मैं देख आया, पर वह कहीं नहीं थी। अब मेरी चिन्ता बढ़ने लगी थी, मैं घबरा रहा था कि आखिर लक्ष्मी गई कहाँ। मैं हारा-थका-सा अपने सोने के कमरे की ओर लौटा जा रहा था कि जाने मेरे मन में क्या हुआ कि मैं सीढ़ी के नीचे वाली कोठरी की ओर मुड़ गया। लक्ष्मी को कहीं नहीं पाकर संभवतः मैं काफी उद्विग्न हो गया था। इसलिए शायद चाह रहा था कि रावो से पूछूँ, उसे शायद मालूम हो। लेकिन जब मैं उस कोठरी के दरवाजे पर खड़ा हुआ तो काठ हो गया।

नरेन बाबू की आँखें वैसी स्थिर निकली हुई थी जैसे किसी मृत व्यक्ति की हों, जैसे बीते दिनों पर पड़े पर्दे से पार सब कुछ होता हुआ देख रहे हों। मैंने हल्के कहा—क्यों? क्या देखा था आपने वहाँ?

वे बोले—मैं काठ हो गया था। मैं चौखट तक अपने बिचारों में उलझा चला आया था। मेरा एक पाँव चौखट के आगे और दूसरा इस पार था कि सहसा मैं ने देखा, राघो की बाँह पर सर रखे लक्ष्मी अस्त-व्यस्त सोई हुई थी। क्षणिक को जैसे मेरी समस्त चेतना बड़ी प्रखर हो गई, जैसे मैं केवल आँख-ही-आँख और चेतना होऊँ। मैंने चाँदनी की मद्धिम रोशनी में देखा राघो के आनन पर आदिम पुरुष का संतोष और ग्राम्यता थी और लक्ष्मी के अधर अस्फुट स्मित में कोनों पर जरा-सा फँले हुए थे। लक्ष्मी की साँस मंद-मंद उठती-गिरती और राघो के साँवले पेशीदार बाहु पर गुच्छ-के-गुच्छ लक्ष्मी की घुंघराली लटें नागिन-सी पड़ी थीं। मैं ने कुछ क्षण अनिमेष आँखों से यह सब देखा। फिर मुझे लगा कि कमरा हल्के हिल-डुल रहा था और ज्योत्सना काली होती जा रही थी। मैंने अपने को संभाला और संभालने की चेष्टा में दरवाजे की कुंडी पर मेरा हाथ अनायास जा पड़ा, जिससे आवाज हुई और लक्ष्मी चौकी-सी उठ बैठी। वह एक क्षण को मेरी ओर चेतना-शून्य आँखों से देखती रही। फिर उसने अपना आँचल सर पर संभाला। मैं कुछ न कर सका, संभल चुका था, बोला—पानी, और चला आया। आकर सीधे पलंग पर गिर गया और तकिए को छाँती से

दबोचने लगा कि कुछ आत्मस्थ हो सकूँ। तभी लक्ष्मी कमरे में आई। उसने कहा—पानी।

मैंने ग्लास उसके हाथ से ले लिया। पानी पी लिया और ग्लास उसे वापस देकर फिर पलंग पर औंधे गिर पड़ा। तब मुझे पता नहीं चल सका कि लक्ष्मी कमरे में ही थी या कि चली जा चुकी थी। मँटल पर पड़ी घड़ी की टिक्-टिक् से कमरा भरा हुआ लग रहा था। तब लक्ष्मी बहुत हीले बोली—प्यास लगी थी तुम्हें?

हाँ।

तो पुकार लिया होता, इतना कष्ट क्यों उठाया।

मैंने जवाब नहीं दिया।

नहीं, ऐसे नहीं चलेगा। कल से मैं पानी यहीं तिपाई पर रख जाऊँगी।

मैं फिर भी नहीं बोला।

फिर वह बोली—मैं जाऊँ?

जाओ।

सर सहला दूँ?

नहीं।

दूँ तो नींद आ जाए?

आ जाएगी। तुम जाओ।

यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि मेरी वह रात किस तरह कटी होगी। तुम उसकी कल्पना आसानी से कर सकते हो। दूसरी सुबह मैं बाज़ार गया। खरीदारियाँ करते-करते काफी देर हो गई थी। दोपहर को मैं बहुत-सी साड़ियाँ, ब्लाउज। कुछ हल्के आभूषण आदि खरीद कर वापस लौटा था। सोचा था, लक्ष्मी को दूँगा और राघो को उसका चिर संगी बना दूँगा। यह भी सोचा था कि होटल लक्ष्मी चला ले सकेगी और मैं... खैर, मेरी बात छोड़ो। क्या करता, कौन जाने।

लेकिन लौटकर देखा, मेन-दरवाजे पर ताला पड़ा हुआ था। उसकी दो तालियाँ रहती थीं, एक मेरे पास, दूसरी लक्ष्मी के पास। मैं उसे खोल कर उसी कमरे में आया और मेरी नजर यहाँ एक तिपाई पर रखे लिफाफे पर पड़ी। अक्षर लक्ष्मी के थे। मैंने घबराए मन से पत्र पढ़ा

एक संहारा

शुरू किया । लक्ष्मी ने लिखा था कि वह जा रही है क्योंकि वह अपने को मेरे योग्य पाती नहीं और यहाँ रहकर मेरी अशांति का कारण बनती है ।

जानो, राघो भी जा चुका था ।

फिर आपने होटल बंद क्यों नहीं कर दिया ?

बंद ही तो है लगभग ।

लेकिन उठाकर कहीं और गए होते तो शायद आप इस घटना को भूल जा सकते ?

लेकिन चला कैसे जा सकता था ? आज भी तो बैठा रहता हूँ कि कहीं लक्ष्मी को वापस लौट कर आना हुआ तो यह सब उसके सुपुर्द सहेज कर ही मैं जाऊँ । फिर मैं कैसे जा सकता हूँ, तुम ही बतलाओ ?

परेशानी का फैसला

‘सुन्दरवा ! ओ सुन्दरवा !’ यामिनी ने आवाज दी। पर ‘सुन्दरवा’ पुकारे जावे पर भी किसी ने जवाब नहीं दिया।

यामिनी झुँझलाई हुई है आज। ‘नहीं आते हैं तो मत आवें, वह क्यों उनके लिए बैठी रहेगी ?...जरा ख्याल भी कुछ होता ! रुपए, रुपए और रुपए ! कहते हैं पढ़े-लिखे बैरिस्टर हैं • हुँह !...’

‘सुन्दरवा !’...यामिनी ने फिर पुकारा।...इस घर की एक-एक चीज पर उसे झुँझलाहट आती है।...यह पियानो, यह सोफा, आलमारी, किताबें, मार्क्स-एंगिल्स...आखिर सब और सब कुछ और कुछ भी नहीं...उसने भी मार्क्सवाद थोड़ा-थोड़ा पढ़ा है ; लेकिन उसका जितना सुन्दर उपयोग वे करते हैं, शायद मार्क्स ने सपने में भी न सोचा होगा।...आलसी...कामचोर...सो रहा होगा कहीं छिपकर...ठहरो सुअर, पुकारो तो बोलेगा नहीं, अभी सिखाती हूँ...।

झुँझलाती, जम्हुआई लेती, स्टडी की बत्ती गुल करती हुई मखमल के स्लिपर में आहिस्ता-आहिस्ता यामिनी सीढ़ी से नीचे उतर आई।...जरूर सीढ़ी के कोने में दुबका सो रहा होगा।...और जाकर देखा, सीढ़ी की रोशनी के मद्धिम प्रकाश में सुन्दरवा चित लेटा पड़ा है। आँखें बन्द, छाती उसकी हल्की-हल्की साँस के साथ चल रही है, टिड्डुनों तक चिट्ठी धोती, कमर में कसी, बस ; बाकी शरीर नग्न।...

‘बहानेबाजी तू अच्छा सीख गया है, पुकारती हूँ तो बोलता नहीं और नींद कछा कर काम से जान बचाता है ; क्यों ?’ गुस्से में भरी-सी यामिनी

परेशानी का फैसला

बोली, लेकिन सुन्दरवा सोया ही रहा । यामिनी अपने शब्दों का असेर देख रही थी साथ ही देख रही थी सुन्दरवा के काले-चिकने, चमकनेवाले चमड़े पर झुंड-के-झुंड मच्छड़ों का बैठना । जब मच्छड़ों के काटने से सुरसुरी मालूम होती तो सुन्दरवा के गठे शरीर की मांस-पेशियाँ जरा-सा सुगबुगातीं ••

यामिनी को मिचली मालूम होने लगी । •• इतना गंदा इसका शरीर है ! ••

कान पकड़कर उसे उठाते हुए यामिनी ने कहा—सुन्दरवा, उल्लू, उठ । जब देखो तब नींद, जब देखो तब सोना । सोना-ही-सोना है या कुछ काम भी है ? •••

आँ—ऊँ करता सुन्दरवा आँखें मलता उठ खड़ा हुआ । लेकिन यामिनी ने उसका कान नहीं छोड़ा । कान पकड़े-ही-पकड़े उसे ऊपर ले आई । स्टडी की बत्ती जलाते हुए बोली—‘पुकारती हूँ तो तू सुनता ही नहीं, बड़ा शोख हो गया है ।’

‘कान छोड़ दो बहूजी, दुखता है ।’ आँखें मलते-मलते सुन्दरवा बोला ।

‘तो सुनता क्यों नहीं जब पुकारती हूँ?’ कान छोड़ते हुए यामिनी बोली ।

‘मैंने सुना नहीं, नहीं तो जरूर आता बहूजी !’—अपराध के स्वर में सुन्दरवा अपनी लाल उनींदी आँखें यामिनी के चेहरे पर जमाए बोला ।

•• इस सुन्दरवा से यामिनी जब से यहाँ आई है, तभी से परेशान रहती है । •• कुछ अजीब है यह •• ✓

चिढ़ती-सी बोली—अरे मेरी ओर ताक क्या रहा है ? कभी देखा नहीं है क्या ?’

सुन्दरवा घबरा गया •• बहूजी, यह क्या पूछ रही है ? जवाब क्या दे वह ? बोला •• आँ, ना •• हाँ सरकार ।

यामिनी का गुस्सा अनायास ही बढ़ता गया •• सूअर का चेहरा कैसा है •• मूँछों की रेख भर है •• चमड़ा इतना चमकता है, लगता है, पालिश किए गए हों । •• औरत की तरह शक्ल और मर्द-सा शरीर •• जाने क्यों गुस्सा आन लगता है •• जब देखती है वह उसे एक अजीब चिढ़-सी लगती है । •• मजा तो यह कि शायद उसकी-सी बड़ी-बड़ी आँखें यामिनी की भी नहीं ••

तभी गुस्से से बोली 'फिर भी खड़ा है सूअर ! मैं सोऊँगी नहीं ? बिछावन हुआ ? मशहरी लगी ? सुराही-ग्लास तिपाई पर रखा ? ' जा ' '

सुन्दरवा भागता हुआ गया । एक लंबी जम्हुआई लेती हुई सोफे से यामिनी उठ खड़ी हुई । हाथ का अखबार मैटल पर रखने चली तो शेल्फ पर रखी बैरिस्टर साहब की तस्वीर पर नजर पहुँची । लगा जैसे शरीर बिजली से छू गया हो—झन्न से हो उठा । खून में जैसे समंदर की लहरें उठने लगी हों ' मेरा ' मेरा ' मेरा जी करता है कि इसे उठाकर पटक दूँ ' हँस रहे है ' कैसी दोमानियाँ हँसी है ! ' भोले-भाले से दीखने की कोशिश और फिर रुपया, रुपया, हाथ रुपया ! ' और कैसा कह दिया उस दिन कि न रुपए कमाऊँ तो तुम्हें कैसे सुखी रख सकूँगा यामिनी ' लेकिन सचमुच रुपए तो वे कमाते है, खर्च तो मैं ही कर डालती हूँ—बेचारे ' लेकिन ? ' लेकिन ' क्या, तुम भी बड़ी वैसी हो यामिनी ! ' कल ही रात न नींद में बेखबर थीं ' वे आफिस रूम से डेढ़ बजे रात को आए, आकर तुम्हें चूम लिया, बड़ा हल्के कि कहीं तुम जग न जाओ ' धत् तुम भी यामिनी बड़ी वैसी हो ! ' हाँ, लेकिन फिर जगाया क्यों नहीं ' नहीं जी, वे तो ठीक . . ही कहते हैं । मतलब साफ है ' स्टैंडर्ड ऑफ लिविंग अच्छा करने के लिए रुपयों की जरूरत है और इनसान को अपना स्टैंडर्ड ऊँचा बनाना ही चाहिए ' हिंदुस्तान में सोशलिज्म नहीं है तो फिर क्यों न कम-से-कम हम अपना स्टैंडर्ड ऊँचा करें ' सो मतलब साफ है, रुपया, रुपया और बस रुपया ' उसके सामने कुछ नहीं ' उसकी किस्मत ही खोटी है ' रूप ' ' जवानी ' सभी उपेक्षित ' ऊँह, हटाओ भी ' जिसकी चीज है अगर वही न परखे तो उसे क्या, यामिनी को क्या ? ' '

तभी आवाज आई सुन्दरवा की, पर्दे के बाहर से, दरवाजे के पार से ' बहूजी, पलंग तैयार कर दिया है । अब जाऊँ ? '

यामिनी को फिर गुस्सा आने लगा, बिगड़ती हुई बोली, अभी ठहर । इधर आ । ' ले इस सोफे और कुर्सियों को झाड़ दे । '

' कैसी है इसकी आवाज ' फटी-फटी-सी, पहले तो मीठी निकलती है और जब तक मीठी लगने लगे, फट जाती है । ' गधा है, ' उहुँक, जानवर है,

परेशानी का फसला

जानवर 'उहूँक, बदसाश है जी, तुम क्या जानो, शरीर है, शोख है कामचोर है।..

मन-ही-मन गुस्से से हँफनी-सी आने लगी। बोली, 'और अभी जाकर बाथ-रूम में गर्म पानी करके दो बाल्टियाँ रख देना।' 'और हाँ, एक काम और।' कोई और कड़ा काम दो इसे, खूब कड़ा, खूब भारी कि समझे।

'क्या बहूजी?' झाड़न हाथ में लिए खड़ा होकर यामिनी की ओर अपनी बड़ी, अबोध-सी आँखें डाले सुन्दरवा ने बड़ी नर्म आवाज में पूछा।

'क्या क्या? बहरा है? सुनता नहीं?' तमतमाये हुए चेहरे से यामिनी ने कहा—एक काम और है 'एक' हाँ, इस सोफे को हमारे सोने के कमरे में डाल आ, मैं पढ़ूँगी। 'समझा?

'जी।' दबी आवाज में सुन्दरवा बोला। उसकी आँख यामिनी की तरफ ही लगी हुई थीं।

'फिर वही 'अरे ताक क्या रहा है? मैं आज क्या कुछ ज्यादा खूबसूरत लग रही हूँ।' गुस्से से आग होती हुई बोली वह। सुन्दरवा एकबारगी ही इस अप्रत्याशित प्रश्न से झेंपता हुआ अनायास बोल पड़ा—धत् बहूजी?—और लाज से उसका सर झुक गया। लजाते हुए वह जरा-सा मुस्कुराया था।

यामिनी भी घबरा उठी। वह भी गुस्से में बदहवास हो जाती है। लौंडा क्या कहेगा मन में? 'छिः...उमे भी समझना चाहिए कि नौकर हैं, उनसे मुँह नहीं लगाते...लेकिन उसे देखते ही यामिनी को गुस्सा आ जाता है तो वह करे क्या?...लड़कियों सा चेहरा, उस पर मूँछों की रेख और फिर मीठी-फटी आवाज... और कैसी काली है उसकी चमड़ी...बेहूदा...गधा है...फिर!...फिर उसे गुस्सा आ रहा है...उहूँक, उसे बराबर इस तरह उसपर झुंझलाना नहीं चाहिए...लेकिन वह करे क्या, उसे देखते ही वह जाने क्यों उबल पड़ती है...अच्छा क्यों?...क्यों?...शायद, हाँ शायद क्या, लगता ही है अजीब भद्दा-सा वह और उसपर हर बात में आँखें फाड़-फाड़कर देखना, बत्तमीज!...

जाने कैसी एक पीड़ा से यामिनी का मन भरता आया—दोष सब-का-सब उसी का है। क्यों नहीं वह अपने साहब से कहती है कि

अगर बारिस्टरी से, रुपए से तुम्हें इतना शौक है तो मुझे जहर ही क्यों नहीं दे देते। 'हाँ, जैसे घर की फनिचरों में वह भी एक हो...सजी-धजी, घर की सजावट का एक अंश...लोग समझें कि बैरिस्टर साहब का स्टैंडर्ड ऑफ लिविंग कितना अच्छा, कितना ऊँचा है...वह एक बड़े प्रेम से सजाई हुई तस्वीर का एक अंश हो...एग्जिबिट हो...और हाँ जी, उन्हें क्या, कोई परेशान हो, मरे, खटे, कुछ, करे...लॉ, लॉ और रुपये...तो उसे ही क्यों न बेच दें, रुपए तो ढेर-के-ढेर मिल जाएंगे उन्हें, और तब उन रुपयों से फिर एक पुतली खरीदकर घर की सजावट पूरी कर लें' 'छिः वह भी, यामिनी, क्या नारी है! नारी क्या है, विडंबना है!

दर्द की टीस कलेजे से बढ़ती गई, बढ़ती गई और सारे शरीर में, अंग-अंग में फैलती गई। नस-नस में लगने लगा, जैसे एक भारी, बोझिल शिथिलता, ऐंठन-सी भर रही हो।...

मन उसका सूना-सूना सा लगने लगा। आखिर यह सूनापन क्या, कैसा, क्यों? 'क्यों यह।'

बाहर रात काली थी। कमरे की रोशनी परदों से टकरा कर रह जाती। खिड़की यामिनी ने खोल दी। बाहर झाँका—अंधकार। जाने क्यों उस अंधियाली से उसे सहानुभूति-सी हुई। लगा, वह उसे अपने हाथों में पकड़ ले, अंक में भर ले, कलेजे से लगा ले।...निनिमेष ताकती रही। सोचेगी नहीं वह। कुछ भी नहीं। वह सिर्फ अपने को लगने देगी, जो भी लग रहा हो, अच्छा या बुरा, सुख या हर्ष 'सब कुछ को वह अपने में लगने देगी' और यह सूनी, नीरव, काली रात 'उसकी बाँहों की नसों में जैसे कुछ अकड़ रहा हो; पँजड़ों में दुख रहा हो; जाँघों में 'ीस रहा हो। कुछ है जो तोड़कर, चीर-फाड़ कर, निर्मोही-सा उसे दुखाता हुआ, उन्मुक्त होना चाह रहा है' यामिनी इसे भी लगने देगी, लगने देगीय 'ह भी हो'.

यामिनी की आँखों में अनायास ही आँसू उमड़ने लगे। गले में रुखड़ाहट भरने को आई। कलेजे की धड़कन बेतरतीब, नासमझ की तरह उलट-पुलट कर चलने लगी। उसने तब एक लम्बी साँस ली और शिथिल, भारी मन लिये घड़ी की ओर देखा—साढ़े ग्यारह!

परेशानी का फैसला

‘तो ठीक, फिर बारह, फिर एक, और तब जाने कब उसे नींद आ जायगी और फिर सुबह और तब सुन्दरवा की मीठी-फटी आवाज मे कहना—बहूजी, चाय !

‘सुन्दरवा ! अरे सुन्दरवा ! ‘सब ठीक हो गया ?’ पुकारा यामिनी ने ।

‘जी बहूजी, आया ।’

‘सुन्दरवा गरीब भी कैसा है ! दिन-रात फटकारती रहती हूँ फिर भी अपनी दबी आवाज में ‘जी, बहू जी’ कहता ही रहेगा । सुन्नर चल नहीं देता कहीं क्यों ? इतनी बात, इतनी फटकार सहकर भी क्यों पड़ा है यहाँ ? उसे क्यों यहाँ रहना चाहिए ? उसे कौन-सा बंधन है ? रुपए का मोह तो उसे नहीं ? तनखाह सब तो मेरे ही पास रख देता है ‘लौडा है अजीब, मेरे सामने तो देखो अचरज की ही आँखों से ताकता रहता है, लेकिन पुनिया लौंडी से दिन रात छोड़खानी ही करता रहता है । ‘छिः । उसे क्या, वह बेहूदा कुछ करे ‘लेकिन नहीं, वह कुछ रस लेकर थोड़े ही कह रही है.. वह तो यों ही कह रही है, उसने देखा, चौंकने की बात क्या है, देखा, उसे आँखें हैं, देखेगी नहीं ? ‘और देखा ही क्या, यही न की पुनिया का आँचल पकड़कर खींच रहा था, हँस रहा था, और पुनिया भी गाली और बातों ओर हँसी मे उसका सत्कार कर रही थी । ‘लौंडी पुनिया भी कम नहीं ! ‘छोड़-छोड़’ कहकर कैसे आँखें नचा-नचाकर मुस्कुरा रही थी ‘

‘बहूजी, गरम पानी रख दिया ।’ सुन्दरवा बाअदब आकर बोला ।

‘पुनिया सो गई, क्या ? भेज दे उसे ।’

सुन्दरवा चला । बोला कुछ नहीं, तभी पुकारा यामिनी ने ‘सुन्दरवा !’

‘जी ।’ मुड़कर खड़ा हो सुन्दरवा ने कहा ।

चला कहाँ बे ?

पुनिया को ‘

‘अभी तो बिछावन लगा कर आ रहा है, देखा नहीं, पुनिया सोई है या जगी ?’

सोई है बहूजी ।

‘अच्छा, तो उसे छोड़ दे । लौंडी शाम ही से सो जाती है ।

सुन्दरवा जाने लगा । यामिनी कमरे से बाहर होती हुई बोली—
सुन्दरवा, सुन ।

जी ।

कमरे को बन्द कर दे ।

बाथरूम में जाकर यामिनी ने देखा—दो बड़ी बाल्टियों में गरम-गरम पानी रखा है । उनसे हल्का-हल्का भाप निकल रहा है । गर्म पानी देखकर जाने क्यों यामिनी को कुछ राहत-सी मिली । उसने पानी की गर्मी जानने के लिए बाल्टी में अंगुलियाँ डुबो दी । पानी की सुसुम गर्मी अंगुलियों से होती उसकी रीढ़ तक पहुँच गई । अभी-अभी का भारीपन जैसे भाप के साथ उड़ता जा रहा हो ।

मन पर जैसे इस भाप की सुसुम गर्मी का दुलार छाता जा रहा हो, यामिनी ने गुनगुनाते हुए कपड़े उतार डाले और धीरे से एक लोटा पानी अपने खुले कंधों पर डाल दिया । गर्म पानी ने जैसे उसकी नसों को गुदगुदा दिया हो, जाने कहाँ की एक चेतना उनमें भरने लगी हो—उसके अंग-अंग में चार साल पहले का लड़कपन, चुहल, सब भरने लगा । उसने पानी को अपने चुल्लुओं में भर अपने मुख पर छींटे दिए और अनायास ही मन खिलने को हुआ, वह सिहर-सिहर जाती—

आज वह अपने साहब से जरूर कहेगी, कहेगी कि उसे वे बेच दें ? यामिनी मुस्कराई—पहले तो वे चकराएँगे..तो क्या ! चकराएँ !—वह ज्यादा कुछ नहीं कहेगी—और अगर उन्होंने ज्यादा पूछ-ताछ करने की जिद की तो वह तकिए में मुँह छिपाकर चुप हो लेगी—हाँ !—

खुशी की जैसे लहर दौड़ रही हो, वह नहाने की छोटी चौकी से उठ खड़ी हुई ।—हाँ, आज वह उन्हें गिखला देगी, याद रखेंगे वे भी—हाँ !—

तभी खयाल आया, अरे ! कपड़े तो नहीं रख गया है, सुन्दरवा ! बेहूदा नीचे भाग भी गया होगा । अब !—पुनिया को पुकार लेगी ।—बड़े बाथ टाबेल से अपनी देह को पोंछती हुई बाथ रूम के आइने में उसने देखा—अच्छा ! उसने चीँकते हुए सोचा । इतनी गोरी है वह !—बाँहों को सहलाते हुए—कितना चिकना है !—हाँ, आज उन्हें परेशान करेगी ही, जरूर !—

टाबेल से अपने को ढकती हुई पुकारा—पुनिया !—अरी, पुनिया ।’

..वह सुंदर है, जरूर..घूमकर आइने में देखने लगी..आँखें कैसे

परेशानी का फैसला

बड़ी-बड़ी है .. सुन्दरवा की आँखों जैसी .. सुन्दरवा, हुँह काला-कलूटा, उसकी आँख क्या ?

तभी दरवाजे पर से आवाज आई—‘पुनिया तो सोई है, बहूजी !

‘तू तो जगा है, कम्बख्त ! अंदर ही से वह बोली । झुँझलाहट तो उसे आई कि आइने में अपने को देखती हुई यामिनी को उसने दिक क्यों किया, लेकिन खुशी की सिहरन जो बार-बार उसकी देह को सहला रही है, उसकी आवाज कठोर नहीं हो सकी ।

सुन्दरवा ने कहा —जी

क्या ‘जी’ बे ? कपड़े हमारे क्यों नहीं रख दिए थे ?

सुन्दरवा चुप रहा । यामिनी ने अपनी आँखों में देखा—अपराधी की तरह सुन्दरवा चुप खड़ा आँखें फाड़े, घबराया-सा होगा ! उसे हँसी आ गई । लोड़ा, एकदम लड़कियों-सा लगता है ।..

कपड़े ले आ ।

जी, बहू..’

क्या बहू जी, बहू जी, कर रहा है, बे ? जाड़े में ठिठुराता रहगा क्या ?

‘अभी तक इनके रंग भूरे हैं’ आइने में देखती यामिनी ने सोचा । ‘ये फिर काले हो जाते हैं’ किनारों की गोलाई और बढ़ जाती है ‘उसने अपनी अंगुलियों से उन्हें छुआ, उनमें जैसे जान आ गई हो । वे मुगबुगाए । हँह ! हल्की हँसी वह ‘जाने कब वे काले होंगे । लेकिन भूरे क्या बुरे हैं । ‘लेकिन गोरे रंग में इनका काला रहना भी अच्छा ही लगेगा, ऐं ? ‘हाँ, लगेगा तो ‘फिर अंगुलियाँ गोभती हुई ‘दबते नहीं । दबते नहीं क्यों ? जरा जोर से । उठूँक, नहीं दबते, अच्छा और जोर से ‘देखूँ ‘मन में अनायास, किसी अज्ञात विजय की प्रसन्नता लिए हुए..हाँ, अब जरा दबे ‘कितने कठोर है ‘हँह ‘बड़ी कठोर हो तुम ! अच्छी नहीं हो यामिनी ‘हाँ ! ‘बहूजी, कपड़े ।

‘कपड़े ‘ये क्या कपड़ों में छिपेंगे ? ‘क्या कपड़ों में छिपा लेगी इन्हें ‘उठूँक ‘और क्या कपड़ों में बाँध के इन्हें, इन्हें, ये जो इतने कठोर, इतने निर्मम, उन्मुक्त रहना चाहते हैं ‘जैसे हिना की मीठी खुशबू की मस्ती से दिमाग भरता जा रहा हो ‘उठूँक, उठूँक, नहीं बाँधेंगे ‘ये बाँधेंगे

ही नहीं ••दबेंगे ही नहीं ••तभी अनायास, जैसे उनमें भारीपन भर आया हो, दोनों हथेलियों में उन्हें दबाए, छुपाए बोली वह—

‘ठहर’। अपने को तौलिए में ठीक से ढक यामिनी ने दरवाजा खोल दिया। ‘ला’ कह कर एक हाथ से अपनी छाती पर तौलिए को दबाए उसने दूसरा हाथ बढ़ा दिया।

पेट्रीकोट पहनने के बाद उसे याद आया कि आज उसे हुम्ना क्या है ? तो कैसे भूल गई कि पाउडर भी नहीं यहाँ ••लेकिन हँस पड़ी ••एक अल्हड़-सी, हल्की-फुल्की मुस्कुराहट ओठों पर नाच गयी।

सुंदरवा !

जी।

पाउडर ले आ।

पाउडर लेकर यामिनी ने सोचा—ड्रेसिंग रूम में ही लगा लेगी। सो आने बनाउज और साड़ी को सुन्दरवा को देती बोली—ड्रेसिंग रूम में इन्हें ले जा। ••यह, पाउडर भी।

••रोएँदार तौलिए को वह अलग नहीं करना चाहती। पीठ, गर्दन, छाती सर्वा जगह एक अजीब गुदगुदी उससे मालूम होती है ••

••ग्रीवा से नीचे, वक्ष पर पाउडर मलते-मलते उसकी आइने पर जमी निगाह चौंक पड़ी। देखा उसने—सुन्दरवा एकदम उसकी ओर ताक रहा है। ••बड़ी लाज आई। •• कैसा है यह ? ••बदमाश ••शऊर ही नहीं, नासमझ की तरह करता है। बोली, सुंदरवा, खड़ा मुँह क्या ताक रहा है ?’

जी।

जा, देख तो कितने बजे हैं ?

••वह कैसे इसे डाँटे ? क्या कहे ? ऐसी लाज की बात ? •• भला, वह उसकी ओर क्या देखता रहता है ! ••वे बैरिस्टर हैं, कैसे भले-से हैं !

साढ़े बारह, बहूजी।

जैसे कितनी चोट लगी हो, मुझाई-सी हो गई। इतनी रात बीत गई, लेकिन साहब वकालत कर रहे हैं ! ••ओह उसका मन फिर भरने को आया।

••बिछावन पर लेटती हुई यामिनी की परेशानी बढ़ रही है। झुंझलाहट जैसे फिर मन में भरती आ रही हो। ••

सुंदरवा !

परेशानी का फैसला

जी ।

‘‘कुछ नहीं, जा ।’’ सुन, पानी ला ।’’

‘‘सुंदरवा !

जी ।

जी क्या ? इधर आ । खिड़की खोल दे और मशहरी के घेरे उठा दे । ‘‘ ‘‘अरे सुन्दरवा ‘‘तू जी क्यों कहता है ? हाँ, क्यों नहीं कहता ? ‘‘

सुन्दरवा चुप । बड़ी-बड़ी आँखें यामिनी की ओर लगी हुई ।

‘‘यह भार उससे अब नहीं सहा जाता जैसे । यह कैसी परेशानी है ! हँस भी न सको ; रो भी न सको ; जैसे जानदार वह नहीं ‘‘कैसे नहीं ? ‘‘कैसे नहीं ? ‘‘उसके शरीर का अंश-अंश तो उछलता-कूदता रहता है, कुड़मुड़ाता रहता है ‘‘अपनी अंगुलियों से उसने अपनी बाँहें सहलाई ‘‘सुरसुरी-सी बहने लगी उनमें ‘‘ऐसे मुलायम बाल ‘‘बालों में अंगुलियाँ लपेटती हुई सोचा उसने ‘‘कैसी साँचे में ढली-सी उसकी जांघ है ‘‘और ये दो गोल-गोल छातियाँ ‘‘इनमें इतनी जान क्यों है, अंगुलियों से सहलाते हुए सोचा उसने ‘‘और है तो फिर वह क्या करे ! ‘‘घड़ी चलती ही रहती है ‘‘लहर-सी, गर्मी-सी, पसीने-सी क्यों हो रही है उसकी देह ‘‘मन पर जैसे गर्म पारे पिघला कर कोई ढाल रहा हो ‘‘

मन भर-भर उठ रहा है ; जैसे अकिंचन, निःस्व, कितनी बेकसी है उसके इन अवयवों में कि यामिनी संभाल न सकेगी । जाने किसके विरुद्ध मन में मान भरता आ रहा हो । कैसी एक तीखी चिल्लाहट, चीख, पुकार, उसके गले में भरती आ रही हो ।

पहले तो सुन्दरवा अपनी चिरी आँखों से देखता रहा—घबराया-सा, फिर बोला—‘बहूजी, बहूजी !’

रोती हुई यामिनी तकिए में मुँह दबाए ही बोली—‘जा सुंदरवा, जा, सो रह, तू । ‘‘छोड़ दे मुझे, अकेली छोड़ दे, जा ।’

सुंदरवा ने सर सहलाते हुए कहा—‘बहूजी तबीयत खराब है क्या ?

‘हाँ ।’ तकिए में ही मुँह दबाए बोली वह ।

बाबू को कहूँ जाकर ?

नहीं । किसी से मत कह ।

‘तो ‘‘ ‘‘घबराया-सा बोला सुंदरवा ।

अरे सर में थोड़ा दर्द है ।

तो सहला दूँ ? पुनिया को उठा दूँ ?

नहीं छोड़ दे, जा तू भी सो रह ।

अच्छा बहूजी, जाऊंगा, आप सो जायें तब ।

श्रीर सुंदरवा सर सहलाता रहा । यामिनी चुप, शिथिल-सी पड़ी थी । सन्नाटा कमरे में अब की तरह भरा रहा । कुछ देर बाद यामिनी को निस्पंद पड़ा देख सुंदरवा ने सोचा—बहूजी सो गई । वह उठा । बत्ती गुल कर दी और खिड़की बंद कर दी । मशहरी का पर्दा गिराने जो चला तो यामिनी ने कहा—सुंदरवा, नींद आ रही है रे ?

‘नहीं बहूजी ।’ घबराया-सा वह बोला और फिर सिरहाने बैठकर सर सहलाने लगा । तभी यामिनी ने कहा—पाँव के तलवे टीप दे तो जरा ।

‘यामिनी ने तकिए को कलेजे-से दबा लिया । यह दम्मे-सी साँस उसकी जो चल रही है, लगता है कलेजे को तोड़ डालेगी ।’ रह-रह कर सिहर रही है वह ‘ठंड है’ ‘नहीं हाँ, है । नहीं है ।’ ‘है तो, वह कहती है, है कैसे नहीं !’ ‘अच्छा ठंड है । हैं, है, उँह’

सुंदरवा, रजाई ढक दे मेरे उपर ‘हाँ अब ठीक है, ठंड नहीं है । ठंड तो पहले भी नहीं थी’ ‘फिर ?’ ‘थी क्यों नहीं’ ‘हाँ, हाँ, थी, थी बस’ ‘और ठंड से ही वह अकड़ रही है, लेकिन अब ठंड नहीं लगेगी, रजाई उसने ढक ली है ।’

‘लेकिन आज इतनी ठंड क्यों है ! वाह ! जाड़ा है तो ठंड भी है’ ‘और गर्मी में ठंड क्यों नहीं लगती है ! नहीं लगती है ! उसे तो लगती रही है, गर्मी, बरसात, जाड़ा, हमेशा ।’

‘सुंदरवा, टिहुनों के अंदर, वहाँ, वहाँ, उसकी गहराई में, हाँ, उसे भी टीप’

‘नहीं आते तो’ ‘लेकिन सुंदरवा इतना काला है ! अंगुलियाँ काली हैं’ ‘काली हैं अंगुलियाँ, लेकिन कैसी मुलायम-सी लग रही है !’ ‘साहब ड्रेसिंग गाउन पहनते हैं’ ‘चश्मे के शीशे बड़े मोटे हैं । कहूँगी, इस बार सोने की कमानी लगवा लो’ ‘और सुंदरवा को यदि पॉलिस कोब्रा नंबर नौ से चमका दिया जाय !’ ‘नाम कैसा रखा है ।’ ‘अभी उसे नींद आ जाए तो’ ‘आ जाएगी’ ‘आएगी अब’

परेशानी का फैनला

सुंदरवा देख, मैं सो जाऊँगी तो मशहरी का पर्दा गिराकर जाना ••

•• वह अब सोई, सोई •• एक, दो, तीन, चार •• रात ज्यादा बीत रही है •• उसे सोना ही चाहिए •• लौंडा भी ठंड से कांप रहा है शायद •• उसे सो ही जाना चाहिए •• वह अब चुप है, नहीं सोचेगी •• लेकिन आँखों में तो जैसे पत्थर डाल दिए गए हों •• अच्छा, आँखें मूंदकर सोएगी ••

उसकी साँस तेज चल रही है। वह बेचैन क्यों हो रही है ?

सुंदरवा, बाँह टीप दे।

•• वह अब नहीं सोचेगी, सोएगी, सोएगी •• अच्छा, नहीं आती नींद, नहीं आती, तो किसी को क्या ? ••

•• कितना बेहूदा है। •• जरा सी बाँह टीपने के लिए कहा तो गुदगुदी लगा रहा है। •• अजीब बात है ! यह सूअर अपने को •• क्या कहे ? •• कहे कि वह नारी है ! दूसरे की स्त्री है, उसे लाज है, शील है, संकोच है, उसके शरीर का इस प्रकार स्पर्श और कोई नहीं पा सकता सिवा उनके ? •• हाँ, वे न पावें न सही, लेकिन दूसरा क्यों पाएगा ? •• नहीं पाएगा, वह इस सुन्दरवा को अभी डाँटेगी, डाँटेगी •• लेकिन संकोच है तो क्या कहकर डाँटेगी ! ••

सुंदरवा।

जी।

‘तू बदमाश है।’ आवाज लेकिन मुन्हायम क्यों पड़ गई ? अच्छा इस बार—

सुंदरवा

जी !

जी नहीं, हाँ कह।

हाँ।

तू उल्लू है।

जी।

क्या कहे इसे ! कैसे कहे ! जो सब कुछ मान ले, उसे कहा भी क्या जाय ! •• लेकिन सब कुछ मान लेगा वह ? अच्छा छकाऊँ उसे ? •• उँह नौकरी से •• अच्छा ठहरो ••

सुंदरवा।

जी।

• • छिः उससे क्या मजाक । अब सोऊँ, नींद, नींद, नींद—तभी उसके रोएं खड़े होने को आए । सारे शरीर में काँटे क्यों चुभ रहे हैं?—वह शिथिल पड़ती गई—

• • 'सुंदरवा' उनीदी आवाज में, 'बड़ा दर्द है रे ।' कहे ? लेकिन !

जी ।

जरा कंधों को टीप दे ।

—ये अंगुलियाँ इधर ही से क्यों लौट जाती हैं?—इतनी नासमझ !—

उसने सुंदरवा की अंगुलियाँ पकड़ कर खींच ली । कंठ से कुछ नीचे उन्हें लाकर कहा—'यहाँ दर्द है रे ।'—

सुंदरवा तब हल्के-आहिस्ते अंगुलियों से टीपता रहा, टीपता रहा । रह-रहकर अंगुलियाँ उसकी काँप जातीं ।—पहले वे इधर-उधर, निरुद्देश्य जैसे, घूमती रही हों, फिर उनमें जैसे जान आ रही हो, जैसे कोई संदेशा वे कहना चाहती हों, कह रही हों ।

• • वह, हाँ, वह यामिनी पागल हो गई है क्या ? हो गई है, हो गई है तो ? तो किसी को क्या ? किसी को, किसी को ? और किसे आखिर?—

सुंदरवा की साँस गर्म है, काँपती-सी थरथराती-सी ।—बालों में लग रही है—यह ? यह कंधों पर—झुक रहा है क्या ?

सुंदरवा ने बड़ी धीमी, बड़ी गीली आवाज में आहिस्ते पुकारा—बहूजी !

यामिनी की देह झन्न-सी हो गई । वह, वह बहूजी है, किसी की बहूजी, किसी की पत्नी है !—यह पलंग, यह कमरा, सोफे, कुर्सियाँ ये नीकर-चाकर—घर—और साहब !—मोटे-मोटे चश्मों के शीशे से झाँकती हुई उनकी प्यार भरी आँखें !—

यामिनी को जैसे बिजली छू गई हो । चमक कर उठ बैठी—सुंदरवा तू जा, भाग अब । मुझे नींद आ रही है ।—लेकिन बेचारा सुंदरवा !

तभी बोली वह—सुन, पुनिया को जगा दे । कह दे, वह नीचे जाकर सोए !—और हाँ, साहब को कह देना—बहूजी के सर में बड़ा दर्द है ।



परिया

नये मुहल्ले में प्रकाश की वह पहली रात थी ।

माँ-बाप की मर्जी के खिलाफ तारा से शादी की, तो बाप के घर का दरवाजा उसके लिए बंद । पहले तो कुछ परेशानी मालूम हुई, लेकिन उसके दोस्त कुमार ने एक घर खोज दिया । अब तक वह कुमार ही के घर के एक कोने में पड़ा था । कुमार ने उस दिन आकर कहा—प्रकाश, एक मकान तो मिल गया । मुहल्ला जरा गंदा है तो इससे क्या ?

“मुहल्ला गंदा है ?” प्रकाश ने पूछा ।

“हाँ, यानी, रहनेवाले जरा अच्छे नहीं, नीच जाति के हैं ?”

“अरे यार, तुम भी कैसी बातें करते हो ! जाति से यहाँ क्या मतलब ?”

“नहीं जाति की बात नहीं । चाल-चलन, रहन-सहन जरा गंदी है ।”

सो उस मकान में प्रकाश की वह पहली रात थी ।

खा-पीकर तारा और प्रकाश अपने सोने के कमरे में चौकी पर बैठे-लेटे बातें कर रहे थे । बात आपस की थी । प्रकाश कह रहा था—तारा रानी ! सच जानो कि बिना पढ़े-लिखे आदमी शक्ल-सूरत से आदमी भले ही मालूम हों, दर-असल आदमी नहीं होते ।

“क्यों ?”

“आदमी शरीर नहीं,—भीतर का ज्ञान, विवेक, अनुभूति, आदमी ये चीजें हैं ।”

“तो ये चीजें क्या अनपढ़ों के नहीं होती ?”

“उहूँ, एकदम नहीं । उनकी अनुभूति की शक्ति इतनी भोंड़ी होती है कि वे क्या जाने तारों के झिलमिलाने में कौन-सा मूक संदेश रहता है ? वे क्या जानें कि भीषण झंझा के रुदन में किस घनीभूत व्यथा की

सिसकी रहती है ? वे क्या समझें कि सागर की उर्मियों में किसका आह्वान रहता है ?...वे जानवर होते हैं।”

अंत का वाक्य प्रकाश ने कुछ जोर दे कर कहा। उसकी आवाज में उनके लिए घृणा भरी थी। तारा चुप रही। उसका मौन यह व्यक्त कर रहा था कि उसे स्वामी के विचारों में पूरा विश्वास है।

प्रकाश अपने विचारों से उत्तेजित हो रहा था। उसने फिर कहना शुरू किया—पढ़ना लिखना ही एक चीज नहीं। शिक्षा वह पत्थर है जिस पर घिसकर भावनाएँ और अनुभूति की शक्तियाँ और पैनी होती हैं। लेकिन, साथ ही उस पत्थर पर कुछ घिसने के लिए भी हो। अनुभूति का बीज ही जिसमें न हुआ, उसे अनुभूति होगी क्या, वह हजार पढ़े... जानती हो, मैं आदमी को तीन प्रकार में बाँटता हूँ। एक वह जो बाह्य जगत को उपादान बनाकर आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करता है। यहाँ आध्यात्मिक से मेरा ख्याल कुछ धार्मिक की ओर इंगित करने का नहीं। मेरा मतलब केवल इतना है कि दुनिया का इस्तेमाल उनके लिए इतना ही है कि वे जी सकें। जीवित रहकर वे मानसिक अनुभव ही में घूमते हैं। यह सब से ऊँची श्रेणी है। दूसरी वह है जिसमें मनुष्य पढ़-लिखकर इतना भर हो जाता है कि खा-पी ले और कुछ शारीरिक सुख भोग करे, यानी, रुपए कमाये, आराम से रहे और अपने परिवार की चिंता करे। तीसरी वह है जो निकृष्टतम है। वह जानवर है। पेट भरना फिर नीच से नीच कर्म करना ही जिसका जीवन है।... इस मुहल्ले वाले सभी उसी श्रेणी के हैं। इन्हें गाली-गलौज और गंदगी ही पसंद है। अंधियाला में रहते-रहते इनकी आँखों को रोशनी पसंद हा नहीं पड़ती। ये वैसे कीड़े हैं जो नाले से बाहर जिंदा रह ही नहीं सकते।..

प्रकाश अपनी बातों के प्रवाह में बह गया था। चुप रहकर भी वह उन नाले के कीड़ों की ही बात मान रहा था। और तारा उसकी बातों की भनभनाहट से तंद्रिल हो गई थी। आँखें उसकी आधी झपकी और आधी खुली थीं। एक बाह तकिये पर अलसाई सी पड़ी थी और दूसरा हाथ छाती पर पड़ा था, जैसे वह आंचल को दबाये रखना चाह रही हो। लेकिन, आंचल सरक कर एक ओर गिर पड़ा था और साटन के ब्लाउज में कसी उसकी देह आकर्षक लग रही थी।

प्रकाश को जब कुछ देर के बाद ग्याल आया तो, घूमकर उसने देखा कि तारा सो गई। वह कुछ देर तारा को देखता रहा। मन ही मन उसकी खबसूरती की विवेचना करता रहा। फिर धीरे-धीरे उसके बाल सहलाने लगा। तारा की नींद जरा-सी उचटी। उसने शिथिल आँखों को आधा खोल मुस्कराते हुए प्रकाश की ओर देखा और फिर आँखें अपने आप बंद होने लगीं।

प्रकाश के हृदय में आनंद की हलचल मच गई। उस एक छोटे से क्षण में उसे लगा—उसका जीवन पूर्ण हो गया। कितना सौंदर्य है जीवन में, वह सोच रहा था, हाँ उसे देखने को आँखें चाहिएँ। तारा और वह दोनों इस लोक के प्राणी नहीं। जहाँ हृदय की बात हृदय से होती हो और रसना मूक होकर आँखों का काम करती हो, वहाँ के ये दोनों हैं। इन दोनों के प्यार के आगे इस दुनिया की सभी चीजें झूठी हैं। इन लोगों का प्रेम आदर्श है।...

प्रकाश का हृदय भर आया। वह उठा। एक हल्की-सी चादर उसने तारा के शरीर पर डाल दी और अपनी कमीज उतारकर सोने की तैयारी करने लगा। घड़ी की ओर नजर गई तो देखा रात के ग्यारह बज रहे हैं। वह सोने चला।

प्रकाश चौकी के नजदीक पहुँचा ही था कि दरवाजे पर आवाज हुई। पहल तो वह चुप खड़ा होकर मुनता रहा कि आवाज सचमुच हुई है, फिर पुकारा, कौन है ?

“मे हूँ, महरी।”

प्रकाश झुझलाया-सा, दरवाजा खोलने चला। इस महरी को देखो। सोन के समय क्या हल्ला करन पहुँची है। ग्यारह बज रात को मे हूँ, महरी ! हुँह !

दरवाजा खोलकर पूछा—क्या है महरी ?

“काम करूँगी बाबू !”

“काम ?”

“हाँ मालिक ! बर्तनों को इसी समय माँज लूँ और पानी भर दूँ, नहीं फिर सुबह आप को देरी हो जायगी।”

“तो सुबह ही कर लेती आकर ?”

“सुबह एक दूसरी जगह भी तो काम करती हूँ मालिक !” कहती हुई महरी बर्तनों को उठाने लगी ।”

टुन-टुन की आवाज सुनता प्रकाश अपने कमरे की ओर चला । मन उसका झूझलाया हुआ था । प्रकृति के इस नीरव संगीत के सुरों से बर्तनों की यह टनटनाहट जो टकराती है कितना कर्कश मालूम होता है । और रात की इस कोमल शांत घड़ी में, जब कि उसका मन स्निग्धता और सौंदर्य का आभास पा रहा है, जब कि सारे वातावरण में पूर्णता की कनकनाहट भरी है, इस महरी का बर्तनों को माँजना कितना भद्दा और निकृष्ट लगता है ।

प्रकाश जल्दी-जल्दी चलकर तारा के कमरे में पहुँचा, जैसे जिस संगीत और वासंती चित्र को देख-सुनकर वह परितृप्ति और आनंद का अनुभव कर रहा था, उसे फिर से देखकर ही वह साँस ले सकेगा ।.

तारा की बगल में लेटकर प्रकाश तारा के गाल को ऊँगलियों से सहलाने लगा । तारा जाग गई । आँखें खोलकर उसने प्रकाश को देखा । उसकी आँखें फिर मुस्काईं और नींद की आलस से उसकी आँखें झपकने चलीं, जबतक वह चौंककर आँखें खोल बैठी । और पूछा—यह खर-खर क्या हो रहा है ?

“महरी काम कर रही ह ।”

“इस वक्त ?”

“हाँ, कह रही थी कि सुबह फुर्सत नहीं मिलती, दूसरी जगह काम करने को जाती है ।”

तारा पहले चुप पड़ी प्रकाश की ओर देखती रही । ओठों पर मुस्कान फैल रही थी । बाल अस्त व्यस्त थे । परंतु, प्रकाश उधर नहीं देख रहा था । वह संच रहा था—वह सोच रहा था—तारा की अनायास मुस्कान । मुस्कुराने की कोई बात नहीं, सीधी सी बात है कि महरी काम करने चली आई है और उसे यह अच्छा नहीं लग रहा है । वह यह बोला भी नहीं है कि महरी का इस समय काम करने का आना उसे नहीं भा रहा है । लेकिन, तारा उसकी आवाज से समझ रही है और तभी मुस्कुरा रही है । इस मुस्कुराहट में उसके लिए सहानुभूति-सी कुछ है, जैसे तारा कह रही हो,

परिभा

हाँ, यह अच्छा तो नहीं, फिर भी हुआ ही तो क्या किया जाय?... लेकिन तारा यों भी, जब उसकी आँखें प्रकाश की ओर मुड़ती हैं, तो मुस्कुराहट रोक नहीं पाती। इस मुस्कुराहट पर प्रकाश ने कई बार सोचा है, उसका अर्थ लगाया है और बार-बार इसके जोर पर दोनों एक दूसरे के नजदीक ही आये हैं। यह मुस्कुराहट बराबर ही यह कहती है कि दोनों के बीच कुछ है, कुछ जो कि गोपन और सरस है, एक संबंध जो दोनों को प्रिय है।

तारा उठ बैठी। मुस्कुराहट ओठों से गई नहीं थी। ललाट और गालों पर आये हुए लटों को पीछे की ओर समेटती हुई जूड़ा बांधने लगी। प्रकाश चुप देखता रहा। मुस्कुराहट के बदले उसके ओठ भी फैल गये। तारा लजा गई। सर झुका लिया उसने। तब धीरे से प्रकाश ने उसके गले में बाँहें डालकर चूम लिया।

तारा ने कहा—महरी है।

“तो क्या?... इसे बुरा समझना अपनी मूर्खता दिखलानी है। तुम सच जानो तारा, मेरा तो ख्याल है कि सेक्स-लाइफ बहुत ही महान और पवित्र है। देखो न, शरीर की बनावट, तुम जानती ही हो, सेलों से हुई है। इन सेलों के बारे में भी जानती हो कि वे जीवित पदार्थ हैं। तो ऐसी हालत में जब कि शरीर का एक-एक अंश एक जीवित पदार्थ है, तो यह क्यों माना जाय कि चुंबन-आलिंगन इत्यादि में केवल मन ही का आकर्षण रहता है। मैंने तो बराबर अनुभव किया है कि तृप्ति मन की ही नहीं, प्रत्यत शरीर की अणु-अणु की होती है।..

महरी ने कुछ कटोरोँ और थाली को जोर से रखते हुए कहा—धत्, निगोड़ा फिर आया है आज!

प्रकाश ने नहीं सुना, पर तारा की कानों में आवाज आई। लेकिन, प्रकाश बोलता जा रहा था, अतः महरी से कुछ पूछना उसने उचित नहीं समझा। और प्रकाश कहता गया—इस परितृप्ति का अनुभव शरीर के कण-कण को तभी होता है, जब संवेदनशक्ति मनुष्य की चरम बिन्दु को पहुँच चुकी होती है, मनुष्य hypersensitive हो जाता है। यह बुद्धि के विकास का लक्षण है। औसत आदमी की केवल मन ही की तृप्ति होगी। फर्ज करो यह महरी। इतने रात को यह काम करने को आई है। यह क्या जाने की पूर्ण तृप्ति किसे कहते हैं। रोटी और क्षुधा की चिंता से

अपने को मुक्त करने की कोशिश में यह सुबह से लेकर बारह बजे रात तक जानवरों की तरह खटती है। इसकी बुद्धि का क्या विकास हो सकता है? इसके लिए सेक्स-लाईफ केवल भोग है, सूक्ष्म आवेशों और अनुभूतियों का इन्हें क्या पता।

“हाय-हाय, मार ही डालेगा क्या? निगोड़ा मरता भी नहीं”... और, “पूर्ण परितृप्ति क्या जानेंगे। यही कारण है कि यौन इच्छा को ये पाप, घृणित और गंदगी समझते हैं।..”

“वह भी जैसी है, पाती है। किसी से लगकर कहीं भाग भी नहीं जाती।”... महरी अपने आप बोल रही थी।

तारा का ध्यान बंट रहा था। महरी अपने आप क्या बक रही है और प्रकाश की बातों की भनभनाहट को रह-रहकर चीरती हुई यह रोने-कलपने की आवाज-हाय बाप, हाय मइया, और रह जा हरामजादी अभी बताता हूँ—कहाँ से आ रही है, उसे जानने को तारा उत्सुक हो उठी। सो प्रकाश जरा दम लेने को रुका, तो तारा पूछ बैठी—“भई, जरा सुनो तो, यह हाय-तौबा कौन मचा रहा है, इतनी रात गये? “हाय तौबा? “हाँ-हाँ, सुनो न।” कहकर तारा चुप होकर सुनने लगी। प्रकाश भी ध्यान देकर सुनने लगा—“हाय मइया, मर गई, मर गई रे बाप।... ठहर जा साली तेरा कचूमर निकाल दूँगा, बट्टी शेर हुई जा रही है।... मार दे, मार दे, मैं कुछ कहती हूँ जो तू रुका हुआ है? मार दे रे निगोड़े, मार दे न रे...। तभी आवाज आई—हँ: हँ, : सट सट।

कोई किसी को बड़ी बेरहमी से मारने लगा। जिसे मार पड़ रहा था वह चिल्ला रहा था—ओह . जान गई, ले-ले जान। गला ही एकबार क्यों नहीं घोट देता रे भठियारा।..

और महरी बोली—“हाय, दुश्मनवाँ जान ले लेगा आज।” और बाल्टी को जमीन पर फिर जोर से पटकती हुई रखकर याली धोने लगी।

प्रकाश ने कहा—ठहरो, महरी से पूछता हूँ, वह जानती होगी। प्रकाश के पीछे-पीछे तारा भी वगमदे पर चली आई। प्रकाश को आता देख महरी न मर पर जरा आँवल खींच लिया और बर्तनों को उठाती बोली—काम सब खत्म कर दिया दुलहन जी, अब जाती हूँ।

“अच्छा महरी, मुनो तो, यह रोने की आवाज कहाँ से आ रही है ? तुम जानती हो ?”

महरी पहले तो चुप रही। फिर जैसे प्रकाश ही पर गुस्सा कर रही हो, कड़ी आवाज में बोली, “जानती हूँ। वह तो हत्यारा है, जान मारकर ही दम लेगा। बाप-रे-बाप, दुलहन जी, हमारी इतनी बड़ी उमर हुई लेकिन, आज तक ऐसा जोरू-मरद नहीं देखा। ये दोनों तो बिचित्र हैं, मालिक ! दुनिया में नेयारा !

“आखिर है कौन ?” “का कीजयेगा दुलहन जी जानकर ! नीच सब है। गाली-गलौज, मार-पीट दिन-रात तो यही करते हैं।... और वह है भी वैसा ही, कि मार खाती है और सहती है...”

उस नये डेरे में प्रकाश की वह तीसरी रात थी। कमरे में रोशनी धीमी जल रही थी। प्रकाश पलंग पर लेटा था और बगल में बैठी तारा मुस्कुरा रही थी जिसमें उलझन थी कि वह इसे नहीं समझ रही है।

अभी-अभी दोनों आकर पलंग पर बैठे हैं। और वरामदे में महरी तवा माँज रही थी, खर-खर, खर, खर ।

खिड़की से प्रकाश ने देखा था कि तीन सज्जन जल्दी-जल्दी चले जा रहे थे और हीरा पीछे-पीछे कहता जा रहा था—“सरकार, कभी फिर आइयेगा। देख तो लिया ही कि मैं झूठ नहीं कह रहा था। क्या कसी देह है उसकी, वाह ! क्यों हजूर ?”

“हाँ-हाँ, सो तो...” एक बोला। और सिगरेट का एक कश लगाकर दूसरे से अंगरेजी में बोला, “Why is the devil coming with us?”

“क्या चाहिए ?” दूसरे ने पूछा था।

“सरकार... कुछ-कुछ इनाम दें, खुशी से, जो जी में आवे।”

तारा ने सारी कहानी सुनाई थी जो उसे महरी से मालूम हुई थी। दोनों में एक का नाम हीरा है और दूसरी है परिखा। शायद माँ-बाप ने खूब-सूरती देखकर ही उसे परी कहना चाहा होगा। तीन महीने से इस मुहल्ले में है। दोनों कहाँ से आये, किसी को नहीं मालूम लेकिन, परिखा सचमुच परी-सी लगती है और अभी बीस-इक्कीस से ज्यादा नहीं ! हीरा को अपना ‘आदमी’ कहती है और हीरा भी उसे अपनी बीबी ही कहता है।

आज सुबह जो प्रकाश ट्यूशन पर जा रहा था, तो रास्ता में कालेज का साथी शुक्ला मिल गया था। बड़े तपाक से मिलने के बाद पूछा था कहाँ रहते हो। और, जब प्रकाश ने बतलाया, तो बड़े अट्टहास के साथ बोला—मुहल्ला तो अच्छा चुना है उस्ताद ! शाबाश ! “क्यों, मुहल्ला तो शुक्ला, समझे कि नर्क है। नालों में सड़ी बदबू, धिनौनी मकान, पतली गली, फिर क्यों कहते हो कि मुहल्ला ...”

“अजी जनाब प्रकाश साहब, आप हैं चोंच ! मुहल्ला अच्छा क्या नालों और मकानों से होता है ? उहँक, अच्छा तो वह मुहल्ला, जहाँ अच्छी चिड़ियाँ हों, समझे ।”

और प्रकाश जब भौचक्का होकर ताकता रह गया तो शुक्ला ने बतलाया कि हीरा के यहाँ वह खुद हो आया है। यों तो वह इन चीजों में कभी डूबा नहीं लेकिन, देखने के ख्याल से देखा किया है उसने। कुछ दिनों तक वह रेगुलर था। तभी जान सका कि हीरा और परिया का संबंध क्या है।

शुक्ला कहता गया—हीरा साला चोर है। ४२० का खिलाड़ी है वह। महीने-पन्दरह रोज बाहर घूमता है और जेब काट कर जो पैसे लाता है, उससे सोने-चांदी के गहने बनवाता है। एक दिन मैंने उसे कुछ पिला दिया। तीस था और कुछ नहीं। खूब पी उसने। साला पीता है, यर ! पानी की तरह घट घट गले के नीचे उतारता गया। करीब तीन बोतल के बाद बच्चु रंग पर आये। मैंने जो जग छेड़ दिया, तो लगा बकने—मालिक, हीरा ऐसा-वैसा आदमी नहीं। मां-बाप सालों ने जो हीरा नाम दे दिया था वो कुछ झूठ नहीं। सचमुच हीरा हूँ ! देखिए सरकार, आप पढ़े लिखे हैं, तो आपके लिए सैकड़ों रास्ते हैं—पैसे कमाने के। लेकिन, मेरे लिए तो काला अच्छर भैस बराबर। मैं क्या जानूँ कि एल० ए० बी० ए० पास क्या होता है। लेकिन हुजूर, पेट आपका भी है और मेरे को भी। तो, पैसा कमाना तो जरूरी है। है न ? कहिये, कहिए न मालिक ! अच्छा तो मेरी तरह के जाहिल के लिए सबसे आसान रास्ता कि मैं पूरा मोटा बन जाऊँ सिवाय चोरी और गिरहकटी के क्या हो ? बेगारी करूँ तो चार-पाँच रुपल्ली मिलें। तो उसमें हरमजादे हीरा को पीने के लिए, खाने के लिए और साली परिया को प्यार करने के लिए कैसे इन्तजाम हो ? फिर आगे बाल-बच्चे की भी उम्मीद है। अगर बच्ची हुई कहीं ससुरी तो गहना-गुड़िया चाहिए ही।

परिया

मजाक की हँसी हँसता हुआ शुक्ला कहता गया—‘समझे जनाब प्रकाश बाबू, वह चोरी करता है और पैसों से कुछ पीता है और बाकी के गहने बनवा कर रखता है कि कभी बच्ची होगी, तो उसे वह गहनों से लाद कर समुराल बिदा करेगा । और कहता है कि ४२० भी ज्यादा चल नहीं पाता । पैसे जो उधर से आये तो, कुछ बाहर रहने के खर्च में चले गये, कुछ घरके खर्च में । और गहने बनवाना जरूरी है । इसलिए परिया को बैठा दिया है । मुझे जो कुछ ताज्जुब हुआ, तो पूछ बैठो—अच्छा हीरा, तो परिया जब तेरी घरवाली है, तो उसे दूसरों के साथ...

तो मुझे बीच में ही रोकता हुआ बोला—हः मालिक की बात । इस काया में सरकार क्या रखा है ? माटी का तन, माटी में मिल जायगा । उससे बनता-बिगड़ता क्या है ? हाँ, मुझे अगर वह प्यार न करे, तो ससुरी को पहली ही रात मार कर निकाल भगाता । हेँ, हेँ, लेकिन मालिक, ससुरी तो हम पर फीदा है सरकार !—कहकर हीरा ऐसा मुस्काया जैसे वह दिग्विजयी हो ।

और तारा कह रही थी, “समझे न जी, उसे हीरा से प्यार हो गया, और महरी कह रही थी कि वे दोनों गाँव से भाग आये । ढोल बजाकर और भाई भोज देकर कोई शादी तो नहीं हुई, लेकिन हीरा को वह छोड़कर कहीं जाती नहीं । महरी तो कहती थी कि कभी-कभी नशे में और कभी तबीयत अच्छी न रहने पर जब परिया बाहर के लोगों के साथ उठती बैठती नहीं, तो हीरा उसे बड़ा मारता है । मार खाते-खाते वह बेहोश भी हो चुकी है कई बार, लेकिन उतने पर भी भागती नहीं, बल्कि कहना मान लेती है और देह की नस-नस में चोट का दर्द और बुखार लिए हुए भी दसों के साथ बैठती है । और बेवकूफ इतनी है, महरी कह रही थी, कि रुपए पैसे सब हीरा के मांगने पर दे देती है ! खुद भूखी रह जाती है पर हीरा को बिना खिलाए बाज नहीं आती । यह तो अजीब औरत है, अजीब ।

और शुक्ला ने कहा था—अजीब आदमी है । एक बार हमारे एक दोस्त ने जरा-सा भद्दा मजाक कर दिया था । कुछ नहीं, कह दिया था कि हमलोगों के सामने जरा नंगी हो जाओ । बत्ती जल रही थी । परिया शायद शर्माई या क्या, नहीं हुई । हमारे दोस्त के सर में ‘थ्री एक्स’ नाच

रहा था । जरा जोर से बोलने लग, अहा क्या कहन हें । बी को लाज लग रही है, वाह ! अरे, तुम्हें पैसे किस लिए दिये हैं जान, जरा अपनी खूबसूरत जांघ, गदराई हुई छाती और पतली कमर दिखलाओ न । मैंन मना भी किया, क्या बाहियात बकते हो । लेकिन, उनके सर में रक्त खोल रहा था । बकते-झकते उठ खड़े हुए— नहीं जी, मैं तो यों मानने का नहीं । कितनी इन सी सतियों का मान-भंग किया है । यह क्या चीज है ? कह कर वे लपके और साड़ी की छोर पकड़ कर खींच ली । परिया चिल्लाई नहीं, लेकिन नंगी ही नीचे भाग गई । हमारे दोस्त खिलखिला कर मजा ही ले रहे थे कि हीरा आया और बोला—हुजूर, आपको शर्म मालूम होनी चाहिये । आखिर, वह एक औरत है । उसकी भी इज्जत है । पैसे से आप देह खरीदते हैं, इज्जत नहीं । सोने का जहाँ तक सवाल है आप अपनी बीबी के साथ सोते हैं लेकिन, आप उस पर उनकी इज्जत करते होंगे । अफसोस, आप हमारे घर पर हैं इस वक्त, नहीं तो दिखला देता । खैर, उठिए और रास्ता नापिए । आप जैसों के लिए यहाँ जगह नहीं ।

और हम सब चुपके से उतर आये । बात कुछ समझ ही में नहीं आई । न उस समय आई और न आज आती है कि यह हीरा आदमी है या जानवर ।...

और इस नये मकान में प्रकाश की तीसरी रात है । तारा चुप लेटी हुई है और प्रकाश जलते हुए बल्ब की ओर देख रहा है और महरी बर्तन मांज रही है—खर्र, खर्र ।

तभी दूर से आवाज आई—हाय मइया मर गई । अब नहीं बचूँगी और साथ ही थप्पड़, लात और घूसों की आवाज ।

और प्रकाश के मन में हुआ—बेचारों परिया ! या पैरिया ?

सूअर की बच्ची

“दो पैसे का पान देना... और दोनों में जरा जर्दा भी ।’.. कहकर मैना एक ओर खिसक कर चुप खड़ी हो गई । उसकी बगल में एक ‘बाबू’ खड़े थे । हाथ में साइकिल थी, माथे पर टोप । वे मैना के साथ ही बोल पड़े थे—“एक पैकेट ‘विल्स’ देना, रामप्रसाद ।”

पान वाले की दुकान में एक बड़ा-सा आइना लगा हुआ था । शायद ‘बाबू’ आइने में अपना चेहरा देख रहे थे । चेहरा देख लेते और कभी टोप को जरा दाएँ दबाते, कभी बाएँ । देख रहे थे शायद कि किस कोण पर वह उनपर फबता है । और फिर पेट की क्रीज झाड़ देते कि वह साफ और सीधी हो जाए ।

रामप्रसाद ने अपनी व्यस्तता में उन्हें चुपचाप एक पैकेट विल्स का दे दिया । तब उसने कहा—पान । और फिर एक बार आइने में अपने को देखते हुए टोप का कोण जरा छोटा किया ।

मैना, साइकिल की हैंडिल पर अलस पड़े बाबू के हाथ के नीचे से एक टकाही फेंकती हुई बोली—पान देना, और दोनों में जर्दा भी..

उसकी माँ जो दुकान से काफी अलग हटकर सड़क पर पाखाने की बाल्टी रखे खड़ी थी, कँहर रही थी । वह देर होती देख, बोली—मैना, पान जल्दी ले, और चल । जाकर पड़ रहूँगी ।..

बाबू जरा पीछे हटकर पान चबा रहे थे और बीच-बीच में चूने की छोटी गोलियाँ मुँह में डालते जा रहे थे । रामप्रसाद ने पान मैना की हथेली पर छोड़ दिया । पान को मोड़ कर एक उसने मा को दिया और दूसरे को मुँह में डालती हुई जरा आगे बढ़ गई । आइने के सामने आकर बालों को सँवारा तो ओठों पर मुस्की दौड़ गई । अनजान, जरा ठीक से

अपने को देखने के लिए जरा और आगे जा खिसकी, तो किसी ने पीछे से डाँटा—सूअर की बच्ची । कहाँ घँसती जा रही है ? शऊर भी है ? कपड़े छू जाते अभी !

मैना तो सन्न । जबतक घूम कर पीछे देखे कि रामप्रसाद ने कड़क दिया—हरामजादी, सूझता नहीं ? हट ! हट पीछे । पान तो दे ही दिया ; आइने में क्या देख रही है, जवानी ?

मैना जब जल्दी से पीछे खिसक गई, तो उसकी नजर मिली और उसने देखा—वही बाबू । और बाबू बोले—‘सूअर की बच्ची, ये बड़ी आँखें देखने ही भर की है क्या ?’ और मुस्कुरा पड़े ।

मैना ने कुछ नहीं सुना । माँ कह रही थी, सर टनक रहा है री, जरा चलकर दबा देना ; और हाँ, जितनी के बेटे से कह देना कि काकी ने जरा तेल माँगा है । सर में मलेगी ।... तुझ तो बड़ा चाहता है । तू कहेगी तो ला देगा ।... आह राम ! सर फट जाएगा री । उँह ।... इस साल कर ले न उससे ; यों जो छिछियाई फिरती है, उससे तो कहीं अच्छा रहेगा ।..

मगर मैना सुन नहीं रही थी । ‘बाबू’ मुस्कुराया क्यों ? वह तो डर गई । फिर कहीं उसी दिन की-सी कोई बात तो उसके दिल में नहीं ?..

...मुँहजरा वह जो जमादार है, सबको धमकाता ही रहता है । उस दिन बेचारी लखिया की ब्रिटिया बीमार थी । मर्दुआ है कि बस ताड़ी और दारू ! दाव तो लगता है, देह से ताड़ी चू पड़े । पड़ा था । रात को ज्यादा पी ली थी । काम पर गया नहीं । और लखिया ! बेचारी बच्चे को, बीमार बच्चे को एक काँख में दाबें नाले सीटती रही । मुए जमादार ने कहा कि काम कर या मर । रपट कर दूँगा तो बस चार रोज की हाजिरी..^{५५}

...उसी निगोड़े जमादार के दोस्त है । यह जमादार निगोड़ा रोब कितना दिखलाता है । कहता है, मैं जमादार नहीं, सनिटरी निसपिटर हूँ । छिंदरी निसपटर कहीं का । दोस्त कैसा-कैसा पाल रखा है ? उस दिन यही दोस्त था न जो कहता था, मैना, मेरी मैना, ले यह साबुन मलकर नहा ले और वह मेरी धोती पड़ी है । बाँध ले । हरामखोर ! जी तो नहीं चाहता था कि जाऊँ, लेकिन मर्दुआ की बीमारी ने जो न कराया ।

सूअर की बच्ची

और सब गत करवाकर चल भी दिया। जिंदगी पहाड़ बना दी और और देह नरक...

... जमादरवा ने कहा था—देख री, वो बाबू—मेरे दिली दोस्त हैं, डमलिए तुझे उन्हीं की खातिर छोड़ देता हूँ। जा उनकी तबीयत बहला दे। सो हजार रोने-कलपने पर भी उस दिन, दोपहर को, जब धूप में लावा फूट जाता, मर्दुआ को बोखार में जलता छोड़ जाना ही पड़ा था।..

मैना को मन ही मन हँसी आ गई। कैसे करता था यह बाबू उस दिन। जैसे, उसका खरीदा हुआ नौकर हो। खुद बिछावन लगाया। खसवाले पंखे को ठंडे पानी से भिगोया। तकिए पर जाने क्या महुँ-महुँ करनेवाला मल दिया और जब मैं नहा-धोकर गई, तो गोद में उठाकर बिछावन पर बिठाया... मर्दुआ भी कभी-कभी पीकर गोद में उसी तरह उठा लेता था। लेकिन, कितने दिनों से उसने ऐसी छेड़खानी उससे नहीं पाई थी... बीमार जो था बेचारा... और बाबू निगोड़ा तब कैसी-कैसी बातें बनाने लगा था—मैना, रानी, तेरी यह देह है!... पी भी ली थी कुछ सो बकवास करता गया—हमारे से शरीफों के खान्दान में भी ऐसी चीजें शायद ही होती हों।... जरा हँस दे... सच कहता हूँ, मैना, तेरे लिए कितनी मुश्किलों का सामना किया है, तू क्या जाने पगली!... और मेरी छाती पर सर रखे—रखे ऐसी ही बहकी-बहकी कितनी बातें कर रहा था;... तुझे चबा जाऊँ? बोल। काट लूँ, इनको, यहाँ?... न, ये बड़े प्यारे हैं। इन्हें चूमूँगा... लेकिन यहाँ? तेरी गोरी गदराई बाँह में दाँत काट लूँ, कैसी कसी हुई हैं! कैसा गोश्त है! कितना अच्छा लगेगा। वाह!... और मूँछकबरे ने किस जोर से काट लिया था कि आज भी वह भूल नहीं पाई है।..

पाखाने की बाल्टियों को 'डंपिंग' में छोड़कर मा-बेटी घर आई। मुश्किल से उकड़ होकर बैठने की जगह। ताड़ के पत्तों की दीवारें और छत। जगह इतनी सी कि टिहुनी को मोड़कर सो लिया जा सके। मैना ने देखा;—सामने मैदान में सभी बैठे हैं—एक सूअर के बच्चे को घेर कर। बच्चा एक बाँस में बंधा है, जिसे दोनों ओर बाँस की कमाचियाँ लगाकर खड़ा कर दिया गया है। बच्चे के चारों पाँव बाँधकर उसे बाँस से लटका दिया गया है।

लेकिन, मैना को जैसे इन चीजों से कोई दिलचस्पी नहीं, वह अपने 'बखोर' में घुस गई और बगलवाले में उसकी मां जाकर लेट रही। मैना का दिल उदास हो रहा था। वह बाबू की आइने में चमकी उन दो आँखों की शरारत भरी मुस्कुगहट से रह-रहकर चिहूँक उठ रही थी और मन उसका भारी होता जा रहा था। सो काम में फँसकर उसे भूल जाने को वह भीतर बैठकर बाँस की कमाचियों से 'दोहरे पंखे' बनाने लगी।

बाहर बच्चे-बूढ़े-जवान-औरतें, सभी चाय-काय कर रहे थे। जलसे की तैयारी में सभी मगन थे। लेकिन खुशी और जलसे की आशा से भी मैना का मन जाग नहीं रहा था। वह अपने काम में ही लगी रही।

इतने में चीं-चीं की तेज, दर्दनाक आवाज उसके कानों में पड़ी। उसने नजर उठाकर एक बार स्थिर आँखों से उधर देखा और फिर पंखे बनाने में लग गई। और चीं-चीं की आवाज आती रही। कुछ देर मैना अपने को इन सबसे अलग-अलग रख पंखों पर आँखें गड़ाए रही। लेकिन आवाज, चीं-चीं, तेज होती गई, और दर्दनाक होती गई। और तब हाथ में पड़ा अधबना पंखा उसने जमीन पर रख दिया और सामने देखती रही जैसे चीं-चीं की आती हुई आवाज पर उसकी आँखें टंग गई हों।..

.. उसने उसकी देह को जाने क्या समझ लिया था। पहली बार जब वह कुछ मिनटों में ही थक कर लेट गया था, उसने कहा था—अच्छा, अब जाती हूँ। लेकिन, इतना कहते ही जैसे उसपर कोई भूत सवार हो गया था, लिपट-लिपट कर चूमने लगा था और बकने लगा था—क्यों, क्या मैं कुछ बुरा हूँ? बड़ा हूँ? क्यों तू भाग रही है मुझ से? और फिर कभी उसकी बाँहें थपकता और कभी जाँघ। उसने बड़ी ठंडी आवाज में कहा था—जाती हूँ, वह बीमार है।

लेकिन, उसने जाने नहीं दिया था। और वह पड़ी रही थी। बोलती भी क्या? जमादार का नादिरशाही था कि बाबू को खुश कर देना। सो वह बिना हिले-डुले, बिना कुछ कहे-सुने पड़ी रही, निश्चल, बेलौस; और बाबू जब दो-चार बार उसके ओठों को चूसकर, गालों में दाँत गड़ा-कर भी खुश नहीं हो पा रहा था, तो उसने उसकी कमर में लिपटी धोती को खोल कर फेंक दिया था और उठकर सिरहाने वाली ऊँची खिड़की खोल

सूअर की बच्ची

दी थी ! कितनी लजा गई थी वह उस तरह एक पराए के सामने अपने को एकदम अनढका पाकर । सो उसने कहा था—पैर पड़ती हूँ, खिड़की बंद कर दो । और लाज और घबराहट में अजाने ही जब वह उठ खड़ी हुई थी तो कितनी निर्लज्ज आँखों से वह उसे देख रहा था और कह रहा था—आह ! क्या गोराई है—एकदम चंपइया, मेरी मैना, एकदम चंपइया । और पहले झट से कमर में हाथ घेरकर उसे जल्दी से चूम लिया था और खींचकर अपनी गोद में बिठा लिया था और मुँहजरा उधरी हुई छाती को मसल-मसल कर कैसी बेहूदी बातें कर रहा था—कसम मैना, कैसी मुलायम है तू, और कसी और चिकनी, अहा !..

चे—चे—...आवाज तेज आती गई और मैना का मन जैसे आवाज की तेजी के साथ सारी बातों को दोहराता ही जाएगा । और जब वह बाबू की याद से परेशान हो गयी तो वह उठकर माँ के पास चली गई । बैठती हुई बोली—कैसा है तेरे सिर का दरद ?

“कैसा रहेगा, मानो ?... अभी तो टपक ही रहा है । कही पड़ गई तो आज गोस भी न खा सकूँगी । देखा ! जितनी का बेटा ही तो तैयारियाँ कर रहा है ?..

मैना चुप रही । माँ के सर पर जो ऊँगलियाँ थीं सो सहसा ही स्थिर हो गईं । अभी-अभी सूअर का बच्चा बड़े जोर से चीखा था । साथ ही, बाहर, जितनी, लछिया, फगुनी, ढेलवा, उन सब के मर्द और बाल-बच्चों की खुशी की चीख की लहर भी फैल रही थी ।

मैना की माँ ने तब कहा—जा न, जा बाहर । वहाँ रह । शायद वे लोग ताड़ी भी पीएँगे । या, पी रहे हों तो ताज्जुब नहीं । एकाध चुक्कड़ तू भी ले लेना, मानो ! और अगर चल रहा होगा तो आकर हमको भी कहियो और ले चलिओ ।

माँ के आग्रह पर मैना बाहर निकल आई । खड़ी होकर देखा, और तब बाहर ही से पुकार कर कहा—ना, अभी लबनी तो ना आई है ।

तबतक उसकी माँ भी बाहर निकल आई । दोनों वहीं बैठकर तमाशा देखने लगीं । जितनी का बेटा, कलूटा, सारी कार्रवाई कर रहा था । उसकी कोलतार-सी काली, गठी देह ग्यारह बजे की तेज धूप में जैसे चमक

रही थी। मांसल, चौड़ी छाती, कसी-कसी बांहें ! जवानी से तब था। ओठ मुस्कुराहट में फैले हुए थे और उनके बीच से उजले दाँत चमक रहे थे। लंबे, घुंघराले बाल पसीने से चिपचिपाए चेहरे पर इधर-उधर सटे हुए थे। और वह बाँस से लटक रहे सूअर के बच्चे को बाँस की तेज, नुकीली कमाची से भोंक-भोंक कर मार रहा था।

मैना चुप देख रही थी। कलूटा तेजा और ताजगी का नमूना लग रहा था। सूअर का बच्चा, जिसका चमड़ा अभी हल्का तंबड़िया रंग लिये था, काफी छोटा था। मैना सोच रही थी, इसका गोشت मजेदार और खस्ता तो जरूर होगा।

जितनी बार बच्चे की देह में बाँस के बड़े सूए भोंके जाते, छोर पर बैठी हुई मंडली ताली पीट उठती, बच्चे किलकारी भरने लगते और बूढ़े कलूटे को शाबाशियाँ देने लग जाते, और बच्चा बड़ी दर्दनाक आवाज में चीखता—चीं-चीं।

माँ ने कहा—देख तो ! कलूटा कितना तगड़ा है। बड़ा अच्छा जवान है। तू बैठ क्यों नहीं जाती उसके साथ ? देख-देख, देख भी, कितनी ताकत से बाँस का 'सूआ' भोंक रहा है, वाह !

मैना ने कोई उत्तर नहीं दिया। उसकी आँखें भी कलूटा पर लगी हुई थीं। जब वह उछल कर बाँस की कमाची वाले सूए को सूअर के बच्चे की देह में पूरी ताकत से भोंकता, तो उसकी छाती और बाँह की मछलियाँ खड़ी हो पड़तीं, और उनमें एक बड़ी लचात्मक चाल पड़ जाती। और तब मैना का कलेजा धक से कर उठता और उसे लगता कि सारे शरीर में खून तेजी से दौड़कर उसके चेहरे में, उसकी आँखों में भर जाता है।

कलूटा ने अपना काम जारी रखा। बच्चा चिल्ला उठता, चीं-चीं.. माँ ने कहा—क्या सोचती है, री ? कह तो मैं उससे, या जितनी से बात करूँ। करेगी ?

मैना ने आहिस्ते से कहा—ना।

'मत कर' तिनक कर उसकी माँ ने कहा, "क्या चाहती है, तू ? तेरे मर्दुआ से क्या देखने में खराब है ? और वह इतना गठा हुआ काहे को होने लगा था ?...वाह, क्या देह है ?'..

"तो इतना पसंद है तुझे तो तू ही कर ले !" हल्की मुस्कुराहट के साथ मैना आहिस्ते-से बोल पड़ी।

सूअर की बच्ची

“देख तो ! अरे, उमिर होती हमारी तो तुमसे पूछने जाती बेटी !”

कलूटे की नजर घूमती-फिरती मैना पर पड़ गई । उसके दाँत चमक पड़े और काली-काली, बड़ी आँखें भी चमक पड़ीं । उसने वहीं से, हँसकर मैना को पास आने का इशारा किया और गर्व से छाती तानकर सूए के पूरी ताकत से सूअर के बच्चे को पेट में घुसेड़ दिया । और वह एकबारगी चीखने लगा—चीं-चीं

मुझे कलूटा चाहता है ! बेजा नहीं है ?... किसी का सहारा भी तो चाहिए ही । माँ बूढ़ी हो चली है । थोड़े दिनों में कहीं खतम लग गई तो... और माँ का भी क्या ? उस दिन लौट आकर माँ को गाल पर दाँतो के उभड़े दोदरे दिखला कर वह जब फूट पड़ी थी, तो भी का पहला सवाल था—कितना मिला री ? और उसके आँचल में बंधे नोट को जल्दी-जल्दी खोलकर गिना कि केवल दो, तो हँस पड़ी थी, और बोली थी—दुर पगली, वह तो रुपए वाले हैं, बाबू हैं, तुझे लेने ही नहीं आया, नहीं तो ज्यादा देता ।

कुछ बूढ़े उतावले हो रहे थे । बच्चे भी । उन लोगों की राय हुई—ई साला का मरेगा जल्दी ? इसे भन डालो : और भूना हुआ इधर बहुत दिनों से खाया भी तो नहीं गया है । बेटा कलूटा, सो, डमे भून ही दो । और तू मंगलवा, चला जा । कल्लू भाई से लपक कर चार लबनी ले तो आ ।

बात तै पा गई । बाँस से उलटे लटक रहे सूअर के बच्चे के नीचे, जमीन पर, सूखे-सूखे पके ताड़ के पत्ते इकट्ठा करके जला दिए गए । बच्चा लटक रहा था । उसके क्षत-विक्षत शरीर से खून की बूंदें टपक रही थीं । फिर भी वह चुप हो पड़ा था । चीं-चीं चीख नहीं रहा था । मरा नहीं था अभी ।

भूने गोشت की तैयारी देखकर मैना की माँ के मूँह में पानी भर आया । बड़ी बेबसी से बोली—चल न । उधर ही चलें ।

“उँह, छोड़” अनमनी होकर मैना ने कहा ।

“अरे बड़ी आई । चलती क्यों नहीं ? आज भी तो बेचारा पान की दूकान पर मुस्कुराया था । तू दूसरी बार के बाद से गई ही नहीं तो ।.. चल ।”

मैना की इच्छा जवाब देने को नहीं हो रही थी । देखती रही और आगे बढ़ गई ।

मंडली के नजदीक पहुँचकर मैना की माँ ने एहसान के अंदाज में कहा—कलूटे बेटा, धूप कड़ी हाती जा रही है ।’ और कहकर मुस्करा पड़ी । कलूटे ने कहा—हाँ काकी । और तब मैना के कंधे को हिलाकर कहा—मन ठीक है तो, मैनी ? सुस्त क्यों लग रही है ?

इतने में आग जो जली और लपटें उठीं तो बच्चे के रोएँ जल उठे और लपटें चमड़ी तक पहुँचने लगीं । बच्चा फिर चीखने लगा । उसके बाल के जलने की चिरायें जोरों से फैली । मैना की माँ के नथुने फैले । वह एक गहरी साँस लेती हुई बोली—अहा, । कैसी सोंधई है !

इतने में मंगलवा ताड़ी की लबनियों को लिए आ पहुँचा । सभी उसे घेर कर खड़े हो गए । अकेला कलूटा नीचे से आँच देता रहा । बच्चा मरा नहीं था । भुना भी नहीं था अभी । वह लगातार चीं-चीं कर रहा था ।

कलूटे ने चिल्लाकर कहा—मंगलवा, ताड़ी इधर ला । मंगल ने हुक्म मानकर उसके सामने लबनियाँ रख दीं । एक लबनी उठाकर उसने कहा—‘ले काकी, तू अपने लोगों में बाँट ले ।’ और एक उठा कर मंगल के बाप को दिया—ले काका हम लोगों को बाँट ।.

अब सभी ताड़ी पीने पिलाने की धूम मचा रहे थे । केवल मैना खड़ी बच्चे की चीं-चीं आँखों में एक अजीब डरावनी रोशनी देख रही थी, जैसे जाने कहाँ की भयानकता उन आँखों से झाँक रही हो, जाने कैसी एक तकलीफदेह, दर्दनाक कातरता उन चिरी-फटी आँखों में समा गई हो, और उसकी अनवरत चीं-चीं में जाने कैसी एक विवशता भरी हो ।

मैना स्तब्ध खड़ी थी । उसका सर चक्कर खा रहा था । उसके एक हफ्ते के बाद जमादार ने एक दिन दोपहर में उसे फिर कहीं भेज दिया था । पिछवाड़ा के रास्ते जब वह अंदर ठेल दी गई थी, तो बाबू उसे, दरवाजा लगाकर भीतर ले गया था । वहाँ, दूसरे कमरे में चार जने बैठे थे । गोस्त-कबाब और ताड़ी चल रही थी । एक ने उसे खींचकर गोद में बैठाते हुए कहा था—आह, मैना ! क्या अच्छा नाम है ! जानों मैं खींचकर दाबाना चाहता हूँ और तू कहती हो, ना, मै ना । वाह !.. और फिर?... उस दिन उसके मर्दुआ की तबीयत ज्यादा खराब थी । वह

सूअर की बच्ची

उसे छोड़कर जाना नहीं चाहती थी । लेकिन जमादार माना नहीं । उसने काफी वक्त जाते देखकर एक बार गिड़गिड़ा कर कहा भी था । बाबू, आज अब छोड़ दो । मर्दुआ की हालत अब-तब में है । फिर खिदमत कर दूँगी कभी, लेकिन आज... और वह बाबू कोढ़िया डपट कर बोला था—“वाह, आज तेरे जमादार को दस तो कमीशन के ही दिए हैं । ना, ठहर ।” और जब वह लौटकर आई थी—चूर-चूर, थकी-मांदी, बेदम तो उसने पाया था कि उसे मर्दुआ से हाथ धोने को तैयार होना पड़ेगा ।.

आग की लपट तेजी से ऊपर बढ़ती जा रही थी । बच्चा जैसे-जैसे चीखना तेज करता जाता था, कलूटा की नसें फड़कती जाती थी । और उधर सभी जब, कुछ-कुछ पी चुके तो खुशी की लहरों में बहने लगे । मंगलवा ने अपने बाप से कहा—बप्पा, तू गीत गा । बिदेसिया के गीत । और देख मैं क्या थिरक-थिरक कर नाचता हूँ ।.

केसरवा ने कहा, “नहीं काका, तू जज बन । मैं मंगलवा से भिड़ता हूँ ।” “खैराती बोला—आओ, चारो, हम लोग कबड्डी खेलें; एक ओर बूढ़े, एक ओर हम लोग ।”

तो मैना की माँ बोली—तो हम सब टुकुर-टुकुर मुँह ताकें, क्यों ? काका बाला—नहीं आओ, सब मिलकर गीत गाएँ ।.

बात तै पा गई और सभी मिलकर झूमने लगे और एक दूसरे का हाथ पकड़कर गोल बनाकर उछलते-कूदते, गीत गाते, सूअर के बच्चे के चारों ओर नाचने लगे । उनके गोल से बाहर खड़ी मैना चुप जाने क्या देख रही थी, सूअर के बच्चे में । बच्चा चीं-चीं करना बंद नहीं कर चुका था । कलूटा आँच देता जा रहा था । लगातार आँच के लगने से बच्चे की चीख भी लगातार ही हो रही थी ।

मैना पहले तो सुनती रही । फिर उसकी आँखों में पानी भर आया—चिटी फटी आँख ! कितनी डरावनी और कैसी तेज, कलेजे को चीर देने वाली आवाज !—मैना चिल्ला पड़ी—हत्यारे, अभी भी बकस दे, न ! और सहसा चुप भी हो गई । वह क्या कह पड़ी । झमेले के हो-हल्ला और उछल कूद में मैना की आवाज कलूटा के कानों में साफ न पड़ी । उसने मुड़ कर प्रश्न भरी आँखों से मैना की ओर देखा और फिर आँच तेज करने लगा । और, अब आँच की तेजी के साथ बच्चे की चीं-चीं मद्धिम पड़ती

जा रही थी । और धर गान-नाचनेवालों का जोश उबाल खाता जा रहा था, और सभी के मिली जुली सुर में, बेसुरी आवाज का हल्ला नपर चढ़ता जा रहा था ।

... आखिरी बार कुछ और पत्ते-लकड़ियाँ ठीककर, आंच को काफी तेज लहका कर कलूटा उठ खड़ा हुआ । उसकी जाँघों की मछलियाँ तन गईं । वह पसीना से तर था और उसकी देह पर तेज जल रही आग की ललाई पड़ रही थी जो उसके कालेपन पर चमक कर उसके तंबई रंग सी लग रही थी । मैना यह सब निःनिमेष देख रही थी । कलूटा तब उसकी ओर मुड़ा । आँखें मैना की आँखों से मिली और कलूटा का चेहरा जैम खिल-सा उठा । दाँत उसके चमक पड़े । वह गल में मिल गया । वह नाचने लगा । उसकी देह की फुर्ती उसके पाँवों में आ गई । चक्कर काटता हुआ गोल धीरे-धीरे तेज होने लगा । और मैना, अनजानें, जाने कौन-से जादू से, कैसे आकर्षण-से, बेहंशी की-सी हालत में गोल के पास खिचती गई और उसकी स्थिर आँखों में धुंधला एक गोल चक्कर खाता जा रहा था । नाचते हुए, कलूटा जब उसके पास से गुजरनेवाला था, उसने उसकी ओर देखा और अपने बाएँ हाथ का झट छड़ाते हुए, गोल को वहाँ से तोड़ते हुए उसने बिना रुके मैना की ओर हाथ बढ़ा दिया । मैना कुछ देर चुप रही, खड़ी रही । गोल चक्कर खाकर कलूटा को उससे दूर ले गया था । लेकिन, कलूटा अपनी बाईं तरफ गोल को तोड़े हुए ही था । एक रास्ता-सा बना रखा था उसने । और धीरे-धीरे मैना मुस्कराते हुए गोल के पास खिचती गई, और जब उसके लिए छोड़ी गई जगह उसके करीब आई, तो मैना या कलूटा को पता न चला कि कब वह उस गोल को पूरा कर उसके साथ नाच रही थी ।

..... वे नाच रहे थे और गा रहे थे—काले-काले जुलुफ और जान जान मारे ना, राजा काले-काले...

उन लोगों से कुछ हटकर चरते हुए सूअरों के एक झुंड ने एक बार आँखें उठाकर उधर देखा । कुछ क्षण तक उसकी आँखें ऊपर उठ रही और फिर सर झुकाकर चरते हुए वे आगे बढ़ गये ।

लाल आसमान

इधर एक अर्से से मुहल्ला ठंडा पड़ा हुआ था। शहर के साथ-साथ मुहल्ले की जिन्दगी भी मजे में चल रही थी। और जब शहर और मुहल्ले की जिन्दगी हसब मामूल चलती तो सुल्तान की तबीयत सुस्त रहा करती। यह नहीं कि उसका रोजगार मंदा रहता, उसके पकौड़े और आलू-चने तो वैसे ही बिकते जैसे सन ४६ के पहले बिकते थे। लेकिन जी सुस्त होने की कुछ और वजह थी। ईमानदारी के पैसे से सुल्तान की वाँछें जैसे खलती न हों। जाने क्यों सुल्तान को उन पैसों से संतोष न था, बावजूद इसके कि उसकी चंद जरूरतें उसकी पकौड़ी की आमदनी से बड़े मजे से पूरी हो जाती थीं। नतीजा यह था कि सुल्तान नियमित रूप से हफ्ते में एक बार किसी गाँठ के पूरे की पाकिट तराश लेता, या किसी के घर, जान हथेली पर लेकर, हेल जाता और कुछ चुरा कर चला आता।

चुराया हुआ माल कुछ ज्यादा हो, सुल्तान के लिए यह जितना ज्यादा जरूरी था उससे ज्यादा यह जरूरी था कि वह चुराये। इसके बिना हफ्ते भर का उसका खाना जैसे हज्म ही न होता हो।

इसलिए उस दिन सुबह की सुबह सुल्तान के गिरोह के कुछ छोकरे जब आकर भेद भरी आवाज में सिर्फ इतना कह गये कि आज किसी वक्त शुरू हो जाने वाला है, तो सुल्तान केवल-जरा-सा ओठों में मुस्काया।

यों सुल्तान कोई बड़ा कद्दावर जवान नहीं था। उम्र पच्चीस-तीस के बीच कहीं रही होगी। लेकिन शरीर से बड़ा चिमड़ा था। और अपने गांव-में ग्यारह-बारह साल की उम्र से ही, मासूम ही जाने के बाद, चोरों और उठाइगिरों का साथ करता रहा था। इसलिए, छुटपन से ही उसकी हिम्मत

खुल गई थी। शरीर पर लाठी और गड़ांसे के कुछेक दाग भी लिए बैठे थे। और जब मसं भींगी थीं तो शरीर भी उसका कुछ फैला था, कुछ कसा था। तब गाँव निरा देहात-सा लगने लगा था उसे, जैसे उसका शरीर अंद नहीं पाता हो वहाँ। तब उसके देहाती धान की कोठियाँ कोई आकर्षण नहीं रह गई थीं। वह तभी चला आया था यहाँ, पूरब। सुन रखा था उसने, यह इतना बड़ा शहर है कि रोजगार की कोई कमी नहीं यहाँ। जैसा चाहो वैसा रोजगार करो। तब से, गाँव के एक खडहर में एक अपने से कुछ छोटी विधवा बहन को छोड़कर यहाँ रहने लगा था। छठे-छमासे बहन को कभी कुछ रुपए भेज देता था और साल-दो साल, पर रोज-दो रोज के लिए गाँव जाकर उसे देख भी आता था। अपने लिए बंधन नहीं लिये थे उसने। जी लगाया था तो चोरी से, और कसम खाई थी कि जिंदगी में इससे वेवफाई नहीं करेगा।...

तो इतना सुनकर कि आज दिन में ही किसी वक्त शुरू हो जाने वाला है, सुल्तान अपनी दूकान बढ़ाकर उठा और घर चला आया। एक अर्से से बहुत कम इस्तमाल आये अपने हाथ-भर लम्बे छूरे को उसने निकाला और तेल लगा कर धूप में डाल दिया उसे। फिर बैठकर खाने लगा।

सुल्तान के नाम से आप उसे मुसलमान मत समझ लें। वह हिंदू था। बाप-माँ ने उसका स्वस्थ और रोबीला शरीर देखकर ही शायद उसका नाम सुल्तान रख दिया था। सुल्तान कद का मझोला था, लेकिन बहुत गोरा। गोराई भी लालाई के साथ, चेहरे-मोहरे के काट से खान्दानी-सा लगता था। अजीब रोबीली बड़ी-बड़ी आँखें थी उसकी। गुस्से में आने पर लाल डोरे खिंच जाते थे। पूछने पर कि सुल्तान क्यों नाम रखा है, कहता, वह बचपन में पैक बना करता था।

सुल्तान ने बचे हुए पकौड़े और आलू-चने को खा लिया। वह खाना बनाने की मिहनत और परेशानी बहुत ही कम उठाता था। लेकिन खाता था दैत्य की तरह। सो भर पेट पकौड़े और आलू चने के ऊपर सेरिया मुरादाबादी लोटा से पानी पीकर वह आँगन में जा बैठे और लगा छूरे को तेज करने। उसने अपने छोकरों से कह रखा था कि शुरू होते ही वे आकर उसे खबर देंगे और वह उनलोगों के साथ अगली गली के पुरबारी पट्टी मुहल्ले पर धावा बोल देगा। छोकरे भी खुश थे। पिछली बार इसी

सुल्तान के नेतृत्व में उन लोगों ने कितने मुसलमानों को पार-घाट लगा दिया था और कितनी दुकानों से दामी चीजें उठाकर ला सके थे । और सब सुल्तान की बदौलत । वह उनकी पीठ पर नहीं होता, तो उनकी इतनी हिम्मत नहीं होती ।

सुल्तान ने ढलते [हुए दिनको देखा और आंगन में तिरछी गिरती हुई धूप में छुरे को चमकाया, जैसे वह साफ आइना हो, रोशनी पड़ी उस पर और सहस्रों किरणों में चूर हो गई । तब ध्यानमग्न हो सुल्तान उसकी धार और नोक पर ऊँगली फेर कर उसका पानी देखने लगा । वह सोच रहा था, दिन के करीब तीन बज रहे होंगे... पिछली दफा उन छोकरी ने उस हिंदू-पाड़े में लूट करते वक्त उसका नाम लेकर उसे आवाज दी थी, तो गिरोह का कोई अनजान उसे मुसलमान समझ उस पर छुरा चला बैठा था ।.....हुँह, दुश्मनी ही नहीं, मुसलमान होना चाहिए, हिंदू होना चाहिए, और छुरे निकल पड़ेंगे ! क्या तमाशा !...

तभी मुसलमानों के कानों में मिली-जुली बहुत-सी आवाजों की भिन्न-भिन्नाहट आई । सुल्तान ने कान लगा दिए । सोचने लगा, शुरू हो गया । और उसके ओठ आह्लाद-भरी मुस्कुराहट में फैलने लगे । आवाज शायद दूर से आ रही है.....वह सोच रहा था । लेकिन यह तो अपने मुहल्ले की ही आखरी ओर से आ रही है ।....और शायद इधर ही आ रही है ।....इस बार वह खून-खराबी में न लग कर कुछ पूँजी इकट्ठी करेगा । एक बार कुछ जमा ले तो वीरान-सी जिंदगी के लिए ऐशो-आराम का सामान भी मुहैया कर लेगा । न होगा, किसी को घर में बिठा लेगा । यों तो वह चाहे तो इसी दंगे में किसी हसीन छोकरी को ले आ सकता है । बला से हिंदू हो कि मुसलमान ।...ऊँह,—देखा जायगा,.....अब उसे भी चलना चाहिए ।...हाँ, पकड़ी-पकड़ो ही तो सब चिल्ला रहे हैं ।...

वह हँस पड़ा । कोई अभाग भागा जा रहा होगा ।...वह भी अब चले ।....ऊँह, आदमी भी कितना डरपोक होता है ! जानवर और कीड़ों से भी बत्तर.... उस बार वह आगा कैसे भागा जा रहा था ! उसने खद उस आगा को तीन जगह छुरा मारा था, एक सर पर और एक पसलियों में । लेकिन, जान का मोह कि उतने पर भी वह भागता ही जा

रहा था !....साले ! जब लड़ते हो तो जान हाथ पर लेकर लड़ो !... चलूँ, इस कमरे का दरवादा बंद कर दूँ। क्या ठीक है रात को कब लौटूँ।

सुल्तान उठा। कमरे की कुंडी लगाने ही वाला था कि दरवाजे पर लगातार कोई थपकी देने लगा। ऐसी वेबस और उतवाली थपकियाँ; मानो जान जा रही हो। और चिरी-फटी आवाज में कोई पुकारने लगा, बचाओ। दरवाजा खोलो, बचाओ !..

सुल्तान तड़प कर दरवाजे पर जा खड़ा हुआ, पलक मारते ही। उसके दाहिने हाथ की मुट्ठी में छुरा था। और उसी क्षण उसने यह भी देख लिया की कुंडी लगी हुई है। बिजली की तरह यह बात उसके दिमाग में दौड़ गई कि यह कोई अकेला है। भीड़ नहीं। हाँ, भीड़ पीछे से चिल्लाती जरूर आ रही है—पकड़ो, पकड़ो इधर, नहीं-नहीं उधर, उस मकान में.. सुल्तान ने सोच लिया—अकेला कोई होगा तो उसके लिए वह स्वयं काफी है; और उसने झटके से दरवाजा खोल दिया। सुल्तान देख नहीं सका, कौन है। जैसे जीवन से हारा-थका, नाउम्मीद कोई हो, वह व्यक्ति दरवाजे के लिए सहारे के कारण चौखट के इस पार, अन्दर की तरफ इस तरह गिर पड़ा जैसे वह मात्र लकड़ी का कुंदा हो, वे-जान-सा। सुल्तान ने जल्दी से भीतर से दरवाजा बन्द कर दिया। सोचा तलाशी लें ले, नहीं तो भीड़ के साथ साझा करना पड़ जायगा।

सुल्तान बिजली की तेजी से झुका और उसने उस व्यक्ति को उसके पाँवों पर खड़ा कर दिया...और...स्वयं भी अवाक खड़ा रह गया। जैसे उसे काठ मार गया हो। बुरका कई जगहों से फट चुका था। फिर भी सर और चेहरे को ढके हुए था। चेहरा दीख नहीं पड़ रहा था। सुल्तान ने बुरका बायें हाथ से हटा दिया। तभी वह औरत चीख पड़ी—आप?... आप हिं... वह आगे न बोल सकी। जुबान जैसे तालू में सट गई हो।

सुल्तान की अवाक आँखें उसके चेहरे पर से हट नहीं रहीं थीं। वह वहीं का वहीं, हाथ में छुरा लिये खड़ा था। औरत ने फिर बड़ी हिम्मत करके, छुरे की ओर डरती हुई देखकर पूछा—आप हिंदू...? लेकिन यह सुल्तान को हो क्या गया है? वह खुद अचरज कर रहा है। वह क्यों नहीं कह पाता, हाँ। यह एक छोटा सा 'हाँ' उसके गले में कहाँ, क्यों अटका

हुआ है ? क्यों उसके कंठ में, बार-बार भीतर से कुछ निकल कर उबकाई-सी भर रहा है ?

उसने तब कहा—देखिए, वे लोग आ जायेंगे, फिर क्या होगा ? फिर क्या होगा, जितना उसकी जुबान ने नहीं कहा उतना उसकी आँखें बोलें। बड़ी-बड़ी, उथलीसी आँखें, भय और त्रास से चिरी फटी, हरिणी सी, चौकी हुई, थकी हुई, घिरी हुई..

पर सुल्तान है कि फिर भी चुप। छरा हाथ में है तो। वह इसे एक ही बार में खत्म क्यों नहीं कर देता ? हाँ, इस जुबान-सी लड़की के लिए एक ही हाथ तो काफी होगा। लेकिन, लेकिन इसकी आँखों में सुल्तान आज यह क्या देख रहा है ? यह है क्या ? ऐसा कुछ जो वह समझ नहीं पा रहा है ? उसकी नसें बेकाबू-सी क्यों हो रही हैं ? अवश, इतना, यह क्यों हो रहा है ?...

तभी भीड़ की आवाज—पकड़ो, इधर नहीं, यहाँ—सुल्तान के दरवाजे पर आई और साथ ही दरवाजे पर दस्तक पड़ने लगे। दस्तक ने सुल्तान को जैसे जगा दिया, जैसे उसकी मूर्छा टूट गई। वह एक झटके से आगे बढ़ा। उसका हाथ पकड़ कर खींच ले आया अपने खजाने वाले कमरे में और फिर बाहर से उसने कुंडी चढ़ा दी। तब दरवाजा खोला उसने और भीड़ से पूछा—शुरू हो गया क्या ?

“हाँ-हाँ यहाँ कोई छोकरी आई है ?

“छोकड़ी ? कैसी ?

“नहीं आई ?”

“देख बे साले, यह मजाक का वक्त नहीं। तू जानता है न, सुल्तान छरा जानता है, छोकरी नहीं।”

“तो भागी कहाँ ?”

“सो देख, आगे कहीं गयी होगी।

“तुम चलोगे नहीं ?”

“अभी आता हूँ, बड़ ?”

सुल्तान ने दरवाजा खोल दिया और कहा—बाहर निकलो। तब सुल्तान आत्मस्थ हो चला था। अब उसे परिस्थिति समझनी थी, लड़की पीपल के सूखे पत्ते-सी कांपती, चेहरे पर बुरके को संभालती ढकती बरामदे पर निकल आई।

सुल्तान ने पूछा—तू यहाँ क्यों आई ?

“क्यों ?”

“हाँ-हाँ क्यों ? जानती नहीं मैं हिंदू हूँ ?”

“मैं....मैं कैसे जानूँ ।”

“वह देख आँगन में । देखती है वह क्या है ?

“तुलसी ? ”

“हाँ तुलसी ।”

तब लड़की कुछ बोली नहीं। और सुल्तान है कि वह भी चुप। फिर जैसे उसकी घिघ्घी बंधने को आ रही है; वह और कुछ देख ही नहीं पा रहा हो। बस उसी आँखों में ही देखता जाता है वह, और जो कुछ देखता है उससे उसे अपने जिस्म से, अपने हाथों से, छूरे से, सभी से जैसे एक उबकाई आती जा रही हो। और वह रह-रह बोलती जा रही थी और उसके दाँत डर से बज रहे थे। वह बीच-बीच में जैसे प्रलाप कर उठती-सुनो, मुझे हिंदू बना लो, अपनी लौंडी बना लो। खिदतम करूँगी। मुझे रख लो, शादी कर लो, कुछ करो, लेकिन इनसान समझ कर मारो मत, मारो मत, ...मारो मत...पाँव पड़ती हूँ, हाथ जोड़ती हूँ। दुआ करती हूँ। और तब वह उसके पाँव पर गिर पड़ी—मेरी जान मत लो भइया.. जैसे यह उसकी आखिरी इल्तजा थी, मुराद थी, शिकायत थी।

सुल्तान का अंग-अंग जैसे बिजली छू गया हो, उसका सारा शरीर एक-बारगी झनझना उठा। गर्म आँसू की बूंदें पाँव पर अनवरत गिर रही थीं। तभी जाने कहाँ की फुर्ती सुल्तान के शरीर में फिर एक बार भरी। वह झुका। उसे उठा कर फिर खड़ा कर दिया और खुद भी चुप खड़ा रह गया। शरीर उसका पसीने से चिपचिपा हो आया। और, वह लड़की बार-बार उसकी बलाएँ लेकर कहती—मुझे हिंदू बना लो भइया ! मुझे अपनी लौंडी बना लो.....

तभी सुल्तान कड़क पड़ा—चुप, नहीं छुरा मार दूँगा। नहीं, नहीं,.. वह चीखती गई। उसकी फटी आँखें छूरे से सुल्तान पर और फिर वापस छूरे पर गई...नहीं, नहीं, नहीं...मुझे हिंदू बना लो, अपनी बना लो मगर मारो मत, मारो मत..

और चटाक की एक आवाज के साथ सुल्तान का बायाँ हाथ उसके जबड़े पर इस जोर से बैठा कि वह निर्वाक गिरी और खामोश हो गई। सुल्तान ने एक क्षण उसकी ओर देखा। लेकिन, उसे यह क्या हो रहा है कि वह कुछ देख नहीं पा रहा? उसकी आँखें जल क्यों रही हैं? उनमें धुंधला सा कुछ क्यों भरता जा रहा है?

उसने उसे हिलाया-हुलाया; फिर नाक पर हाथ रख कर देखा, साँस बंद थी। दौड़ कर पानी लाया मुँह पर छींटे दिये। बरके को चेहरे पर से हटाया। ललाट पर हाथ रख कर देखा। हाथ को लगा छन्न, जैसे ललाट जल रहा हो।

तभी वह होश में आई और बकने लगी—नहीं, नहीं तुम्हारे हाथ जोड़ती हूँ....

सुल्तान ने उसे अपने बाजूओं में उठाकर खाट पर ला रखा और कहा—चुप पड़ी रह। मैं अभी आता हूँ। बाहर से ताला लगा दूँगा।

“न—न तुम जाओ मत। फिर वे आयेंगे, वे....वे”.....

“मैं कहता हूँ, चिल्ला नहीं, चुप पड़ी रह।”

थोड़ी देर में वह एक ग्लाम गर्म दूध ले आया। कहा—पी ले। फिर पूछा—“तेरा कपाल गर्म क्यों है? बुखार है?”

“हाँ।”

“ज्यादा मालूम होता है।” चिंता के स्वर में वह बोला।

“बारह दिन हो गये। आज एक-सौ दो था जब”... जब... और वह बिलखने लगी।...

घंटे भर के बाद वह शांत, दुबकी सी सुल्तान के बिछावन में लेटी थी। उसकी आँखें बंद थीं और वह बीच-बीच में बोलती जा रही थी कि वे सब आये और उसके छोटे भाई को और अम्मा को भी भाले का शिकार बनाया। अब्बा तो पहले ही लड़ मरा था और वह पिछवाड़े से भाग निकली थी।..

सुल्तान ने कुछ देर बाद देखा कि वह शायद सो गई है। कपाल पर हाथ रखा, वह और भी तबता जा रहा था। मुहल्ले में रह-रह कर शोर होता। शायद इक्के-दुक्के राह चलतों का काम तमाम किया जा रहा था। लेकिन, आज सुल्तान के खून में इस शोर से सुरसुरी नहीं मालूम हो रही

थी । हाँ, उसे रह-रह कर सुमनी की याद आती—उसकी बहन सुमनी जो उससे काफी छोटी है और गाँव पर अकेली है और बेवा है..

तभी उसने आँखें खोलੀं और कहा—पानी । पानी पीकर उसने कहा बड़ी नींद लग रही है, सो जाऊँ ?”

“क्यों नहीं ।”

“मार तो नहीं दोगे ।”

तभी सुल्तान ने झुककर उसका माथा चूम लिया ।

वह चौंकी । पूछा—तुम मुझसे शादी करोगे ?

सुल्तान ने कहा—पगली !

वह चुप हो रही । फिर कहा—बहुत पसीना आ रहा है । बड़ी कम-जोरी मालूम हो रही है ।

“दूध पीएंगी ?”

“नहीं । पता नहीं दौड़ने से, या क्या मिचली मालूम हो रही है ।” और उसने जो उल्टी की तो खून आ गया ।

सुल्तान के हाथ-पाँव ठंडे पड़ने लगे । हाय राम, यह क्या ? फिर क्षणिक स्तब्ध रह कर उसने फुर्ती से उसे ठीक से ढक कर लिटा दिया । फिर सर छकर देखा—अंगार हो रहा था । वह बोला मैं दवा लेने जाता हूँ ।

“नहीं नहीं, कैसे जा सकोगे ?”

“तू फिकर न कर, चला जाऊँगा”

“न न” !

“देख तो, अभी आया । बाहर से ताला लगा दूँगा । और फिर इस मुहल्ले का, मेरे पीछे, मेरे मकान में कोई नहीं हेलेगा ।”

वह मना करती रही, लेकिन वह दरवाजे की ओर बढ़ गया ।

सुल्तान के गये कुछ वक्त बीता होगा कि वह उठी । देखा आंगन से धूप भाग चुकी थी । जाकर फिर लेट रही, एक अजीब कशमकश, एक भारी निरर्थकता भर रही थी उसके भीतर और वक्त बीतता जा रहा था ।

और वक्त बीतता गया । कमरे में रोशनी तब नहीं आ रही थी । वह बरामदे में आकर बैठ गई । लेकिन, वक्त था कि उसे डैने लगे थे । और तब और वक्त बीता और वह देखती रही..

लाल आसमान

कि उसे ताज्जुब हुआ । उसे गये इतनी देर हुई, वह अब तक लौटा क्यों नहीं ? वह सोचती थी, सोचती थी और वक्त बीतता जा रहा था और कमरे और बरामदे में धुंधलका छाया जा रहा था ।

वह आंगन में चली आई । सूना और नीरव, ऐसी स्थिरता जानो उस मिट्टी ने आदमजाद कभी जाना नहीं । हल्के धुंधलके में तुलसी का उजला चबूतरा हल्का-हल्का दीख पड़ता था और सैलानी हवा के हल्के झोंकों में तुलसी की पत्तियाँ कभी डोल पड़ती थीं ।

उसने आसमान की ओर देखा—नीले आसमान पर साँझ झुकती आ रही थी । आंगन में भरा हल्का धुंधलका गहरा रंग पकड़ता जा रहा था और तुलसी का चबूतरा यों अब हल्का, धुंधला, उजला दिखाई पड़ रहा था, अब और धुंधला होता जा रहा था ।... और वक्त बीतता जा रहा था, और उसके बीतने के साथ साथ एक अजीब ठंडा, बर्फ की कुन्नियों सा हल्का मगर ठोस सन्नाटा उसके इर्द-गिर्द जमता जा रहा था ।..

वह चौतरे पर चली गई । नजदीक से उसने देखा तुलसी की पत्तियाँ हवा में हल्के डोल रही थीं ।... और तब वह सर जमीन में टेककर तुलसी के सामने झुक गई—या अल्लाह !

और आसमान में तारे चमकने लग गये थे, और जल रहा था आसमान का एक कोना, मकानों के धू-धू जलते छप्परों से उठ रही लपटों, से, लहरों से ।...

खिलौना समझ कर

मैंने पहले-पहल उसे उस दिन देखा । बरसात की हल्की-हल्की फुहियाँ पड़ रही थीं । हवा में कुछ सर्दी थी और आसमान बादलों से ढका था । मैं अपने कमरे की खिड़की से बाहर देख रहा था । वह फुटपाथ पर चली जा रही थी । उसकी चाल में कुछ हड़बड़ी थी, शायद पानी के आने के डर से । जल्दी-जल्दी पाँव बढ़ाते वह जा रही थी और गाती जा रही थी—
खिलौना समझकर बिगाड़ो न हमको... एक पैसा बाबू, एक पैसा । दे दो बाबू, दे दो राजा । भगवान भला करेगा.... खिलौना समझकर..

इक्के-दुक्के राहगीरों से वह ऐसा कभी गिड़गिड़ाकर, कभी बिहँस कर कहती । पानी की आशंका से तेज चलते-हुए राहगीरों में शायद एक-दो ही थे जो उसे कुछ दे पाये । ज्यादा लोगों ने उसकी मस्कुराहट या उसकी दीन आवाज पर ध्यान भी न दिया ।

मैं उसे देखता रहा । वह फुटपाथ पर बढ़ती जा रही थी । और चिल्लाती हुई आवाज में कहती जाती थी—खिलौना समझकर बिगाड़ो..

मैं सामने छज्जे पर निकल आया । वहाँ से सीधी सड़क पर काफी दूर तक मैं देख सकता था । निकलकर देखने लगा । उम्र उसकी बारह-तेरह से कोई ज्यादा न थी । छरहरा बदन और गोरा रंग । चेहरे में काफी सलोनापन नाक ऊँची और आँखें बड़ी-बड़ी ।

इतने में पानी आ गया था । और वह मेरे होटल से कोई चार-पाँच मकान पहले, एक बंद दूकान के छज्जे के नीचे खड़ी हो गई थी । हवा के झोंके जब आते तो उनपर लदी झींसी से बचने के लिए वह अपनी ओढ़नी को बार-बार, कभी इधर, कभी उधर खींचती । वह एक फटी-सी शलवार

खिलौना समझ कर

पहने थी और कुर्ता इतना ढीला था कि उसमें उसकी तरह की दो आजातियाँ ।

पानी के छींटों से भीगने की वजह से वह काँप रही थी । इतने में बरसाती ओढ़े एक आदमी उधर से निकला । उसपर नजर पड़ते ही वह चिल्ला पड़ी—खिलौना समझकर बिगाड़ो न... बाबू एक पैसा । दानी, एक... खुदा रोजी दे । भगवान भला करे ।...

उसकी आवाज ठंड की वजह से काँप रही थी । चेहरे पर कुछ परेशानी झलक रही थी । फिर भी गाना गाते समय उसके चेहरे पर विलासिता की ऐसी भंगिमा आई कि मुझे उसकी ओर देखना भी बड़ा अप्रिय लगा । जैसे माँगने समय उसने कुछ अपनी भवें नचाईं, आँखों में मुस्काई और हाथ आगे बढ़ाकर कुछ इस तरह झुकी कि ओढ़नी का एक पल्लू कंधे से नीचे गिर आया । बरसाती वाले सज्जन ने देखा, मुस्कुरा दिए और आगे बढ़ गये ।

मेरे मन में बड़ी उथल-पुथल मच गई । अजी छोटी बच्ची, मेरी ब्रिटिया से शायद साल-दो बड़ी है । उसने इस प्रकार की भावनाओं का नाट्य कैसे, कहाँ से सीख लिया ? और शायद इसीलिए वह गाने की और पंक्तियों को न गाकर सिर्फ इसे ही गाती है—खिलौना समझकर बिगाड़ो न मुझको !

पानी का जोर जब कुछ थमा तो वह आगे बढ़ी । मेरे होटल की बगल से जो गली जाती है, उसमें मुड़ी । मैं अपनी जिज्ञासा ठोक न सका । मुड़कर उसे पुकारा—अरे लड़की ! ओ बच्ची ! इधर आना !

उसने सर ऊपर उठाया और मुझे देखते ही चिल्ला पड़ी—खिलौना समझकर बिगाड़ो न मुझको... कुछ दे दो बाबू... और फिर वही अदा ।

मुझे बड़ी चिढ़-सी मालूम हुई । इसने माँगने की यह अदा कैसे सीख ली ? और क्यों ? मैंने कहा—इधर आ, आंगन में । और मैं नीचे उतर गया । मैंने पूछा—तू कहाँ रहती है ?

“इस गली में” सहमी-सी वह बोली ।

“कब से रहती है ?”

“अभी तीन-चार दिनों से ।”

“अकेली है ?”

“न-न ! बाबू—अब्बा भी है ।” घबराई-सी वह बोली ।

“तो तेरा अब्बा क्या करता है ?”

“बीमार रहा करता है ।”

“किधर की है तू ?”

“गाँव की ।”

मैंने देखा, लड़की घबराई हुई है । एक इकत्री उसे देते हुए पूछा—
“अच्छा, यह माँगने का तरीका किसने सिखलाया ? अब्बा ने ?”

उसने सिर हिलाकल कहा—“हाँ ।”

उसके बाद से उस लड़की से कई बार बातें हुईं । कॉलेज के नजदीक ही रहती थी । अक्सर वहाँ फुटपाथ पर बैठ कर गाती और ‘लेजर’ में घूमनेवाले लड़कों से पैसे माँगती । तीन बजे कॉलेज से पढ़ाकर लौटने पर मेरी अक्सर उससे बातें हो जातीं । एक दिन मैंने पूछा—“तेरा अब्बा कैसा है, नीलम ?”

‘वैसा ही है ।’

“अभी अच्छा नहीं हुआ ?”

“नहीं, बाबूजी । बड़ा खाँसता है ।”

कुछ दिनों बाद, बातों के सिलसिले में मैंने पूछा—अब कैसा है ?

“आज तो हालत बड़ी खराब है । खाँसता है तो मुँह से ढेर-सा खून आ जाता है ।” कलपती हुई आवाज में वह बोली ।

मैं चुप हो गया । वह बोलती गई—रात बुआ आई थी । अब्बा से पैसे माँग रही थीं । अब्बा ने मुझसे पैसे माँगे । लेकिन मेरे पास कहाँ थे कि मैं देती । मैं जो कुछ भी माँग-चाँग कर लाती हूँ, उसमें कुछ तो अब्बा के खाने में खर्च होता है, कुछ मेरे खाने पर । मैंने कहा, मेरे पास पैसे नहीं हैं । तो बुआ गाली बकती हुई मेरा झोंटा पकड़कर बोली—हरामजादी पैसे दबाती है । खसम करेगी न ! और लगी झोंटा पकड़ कर घिसियाने ।

नीलम की आँखों में आँसू छलछला आए । मैंने पूछा—नीलम, यह तेरी बुआ कौन है ?

“बुआ है, और कौन ?”

“अपनी बुआ, यानी तेरे अब्बा की अपनी बहन है ?”

“अरे ! नहीं बाबूजी ।” और बुदबुदा कर बोली—“मेरे अब्बा की रखेबू है ।”

खिलौना समझकर

एक दिन रामप्रसाद पानवाले ने बतलाया—अहमद, नीलम का बाप, गाँव का है। नीलम की माँ, नीलम को तीन बरस की छोड़कर, मर गई थी। अहमद ने तब से दूसरी शादी नहीं की। थोड़ी-सी खेती थी। मिहमत करता था, और नीलम को गोद लिए फिरता था। एक दिन, जब नीलम करीब नौ-दस के होगी, गाँव के मैदान में, जमींदार का ग्यारह-बारह का लड़का, नीलम के साथ खेलते-खेलते झगड़ पड़ा। उसने नीलम के बाल नोचे और नीलम के गाल में दाँत काट लिया। नीलम अपने बाप की दुलारी क्यों बाज आती! उसने लड़के की बाँह में जो दाँत गड़ाया तो खन आ गया। बस इतने के लिए ही सारा किस्सा हो गया। पहले तो जमींदार साहब नीलम के बाप को बुलवाकर खूब पिटवाया, फिर एक दिनरात में उसके खेत में खड़ी फसल में आग लगवा दी। तब से अहमद बददिमाग हो गया। कभी किसी की मजदूरी की, कुछ पैसे मिले तो ताड़ी और शराब पी ली। यही उसकी जिंदगी हो गई। घर की सभी चीजें बेच-बेचकर वह शराब पीता। कलाली की बगल में रहती थी—अभी भी रहती है—नसीबन बुआ। उससे जान-पहचान हुई। फिर बात बढ़ गई। नसीबन बुआ के जब तकाजे नहीं पुरने लगे, तो वह दूसरे गाँवों में जाकर भीख माँगने लगा। लोकेन भीख के पैसों से नीलम को पालना, नसीबन बुआ के तकाजों को पूरा करना, और फिर शराब पीना, सभी वह कर नहीं पाता था। तो नीलम को भी साथ किया।

और नीलम ने एक दिन कहा—अब्बा ने समझाया कि बेटा, जैसे मैं बतलाता हूँ वैसे माँग तो तुझे लोग ज्यादा पैसा देंगे। तब मे वह अपने अब्बा के बतलाए हुए तरीके से भीख माँगती है।

“कई दफा तो अब्बा ने मुझे पीटा भी है। जब मुझसे उनकी नकल ठीक-ठीक नहीं उतर पाती थी तो।”

इसके चार-पाँच दिनों के बाद, नीलम ने आकर कहा—कुछ पैसे दो बाबू! दो दिनों से भूखी हूँ। जो पैसे मिले वह सब अब्बा ने छीन लिए और शराब पीने चले गए। परसों से उनकी तबीयत कुछ अच्छी है। खून तो मुह से कभी-कभी आ जाता है पर उतनी खाँसी-नहीं आती अब। जो कुछ पैसे मैं परसों से ला रही हूँ, सब छीन ले रहे हैं। रात से बुआ भी

आ धमकी हुई है। अब्बा ने कहा है—आज जैसे भी हो, पैसे ला, नहीं तो तेरी खैरियत नहीं। रात दोनों ने पी ली थी। बड़ा उधम मचाते रहे। पहले तो अब्बा ने कहा—तू सो जा, नीलम। मैं कोने में जाकर पड़ रही। लेकिन पेट में तो चूहे कूद रहे थे। नींद आई नहीं। इस पर बुआ मुझे मारने दौड़ी। लेकिन मार खाने से पेट थोड़े ही भरता है, बाबू ! मैं चुप पड़ी-पड़ी सिसकती रही। अब्बा ने फिर डाँटा—सो जा, मैं कह रहा हूँ, नहीं तेरी खाल उधेड़ कर धर दूँगा। और बिगड़ते हुए आकर मुझे उठाया और दरवाजे के बाहर कर दिया। और भीतर से दरवाजा लगा लिया : मैं रात भर वहीं पड़ी रही। पहले तो दोनों की हँसी-बोली सुनती रही, फिर धीरे-धीरे नींद आ ही गई।... और आज अभी तक कुछ तेरह-चौदह पैसे मिले हैं।... खैरियत नहीं दिखती आज !”..

उस दिन रात में देर से लौट रहा था। ठाकुर के यहाँ खाना था। गप-शप में काफी देरी हो गई थी। ग्यारह बज चुके थे। होटल से करीब दस कदम इधर ही, एक मकान की छाया में दो आदमियों को धीरे-धीरे बात करते सुना। ‘नीलम’ सुनकर मैं वहीं ठिठक गया और सुनने लगा—‘नहीं हज़ूर, सच कहता हूँ, इससे कम में कैसे होगा?’

‘तो मुझसे ज्यादा नहीं बनेगा, अहमद। किसी और को देखो।’

“जरा ख्याल कीजिए हज़ूर, कितनी खिच्ची है।”

“और मैंने आपसे कहा था न कि अभी तक...” जरा आगे बढ़ती हुई एक औरत ने कहा। मैंने समझा, यही नसीबन बुआ होगी। “अच्छा, तो चार रहा। उससे ज्यादा नहीं दूँगा। चाहो, सौदा तय कर लो।’

कुछ क्षण अहमद पशोपेश में रहा। फिर बोला—अच्छा। और नसीबन बुआ ने कहा—अच्छा, अच्छा चलिए। खुश होगी तबीयत तो कुछ बखशीश देना।...

दूसरे दिन कॉलेज के हाते से निकलते ही मैंने देखा—नीलम वैसे ही चिल्लाकर गा रही थी—खिलौना समझकर बिगाड़ो न हमको, कि हम भी किसी के बनाए हुए हैं....

नीलम के साथ सब कुछ वैसा ही था, जैसे पहले। कपड़े भी वे ही जो शायद इस असें में उसने कभी बदले नहीं थे। हाँ, आज वे साबुन के धुले हुए, साफ-से लग रहे थे।

खिलौना समझकर

रात की घटना की तस्वीर मेरी आँखों के सामने घूम गई। जाने क्या, नीलम को एकबार ठीक से देखने की इच्छा प्रबल हो उठी। मैं फुटपाथ पर, उसके काफी नजदीक से बढ़ने लगा। हाथ पसारे, ओढ़नी को कंधे से गिराए, ओठों पर सीखी हुई मुस्कुराहट लिए वह गा रही थी। और कॉलेज का एक लड़का मुस्कुरा कर उसके हाथ में कुछ पैसे रख रहा था। मैंने उसकी आँखों में ध्यान से देखा। उसने देखा। गाना जरा-सा रुका। उसकी आँखें जरा चौंकी, जरा झुकने को हुईं। बस। वह गाने लगी— खिलौना समझकर बिगाड़ो न हमको..

मैं आगे बढ़ गया था और उसका गाना सुनता जा रहा था। बिगाड़ो न हमको ! लेकिन, क्या उसकी बात रही ?

— — — — —

गोश्त और दाने

मैंने कहा—सलाम, अनवर भाई ! अनवर भाई ने अपनी स्वाभाविक गंभीरता से कहा—सलाम । सुबह के आठ-नौ बजे होंगे । जाड़े की मीठी धूप अनवर भाई की दूकान के सामने सड़क पर कुछ-कुछ फैल रही थी । लगता था, इस लंबी कोलतार की काली सड़क पर हलके टिचरआयोडिन में भिगोई पट्टी जगह-जगह बाँध दी गयी हो । आज मुझे गोश्त नहीं लेना था, फिर भी कुछ समय विताने के लिए अभ्यासवश अनवर भाई की दूकान पर चला आया था । अनवर भाई की सामने वाली दूकान 'दी सरजिकल अप्लायेंसेज कं०' अभी बंद थी । मैंने कहा—अनवर भाई, आज सर्दी काफी है ।

'हूँ' । करीब-करीब बिना बोले ही अनवर भाई ने कहा । वह तीन खाल उधेड़े बिना सर के खस्सियों को टांग के बल सामने लटका चुका था । एक टांग की गोड़ी के पास थोड़ी-सी चमड़ी और रोएँ अभी भी लगे हुए थे । अनवर भाई छरे को गोश्त काटनेवाली लकड़ी के सिर पर पिजाते हुए बोला—तीन सेर दे दूँ ?

“नहीं अनवर भाई, आज गोश्त नहीं लेना है ।”

‘ओ ! अच्छा ।’ इसी बीच आवाज आई—में-एँ-एँ । अनवर भाई ने छरा सिल पर रख दिया । लुगी संभालते हुए वह उठा ।

मैंने पूछा—क्या बात है ?

“जरा मुटरू को बगल में बाँध दूँ, धूप लगेगी ।”

‘मुटरू ?’

‘हाँ’ कहता हुआ अनवर भाई दूकान के पीछे चला गया । फिर तुरत लौटा तो हाथ में रस्सी लिये एक खस्सी के पट्टे को लेता आया । बायीं

गोश्त और दान

बगल गबड़े और दूकान के बीच जो कुछ जगह थी, वहीं धूप में उसे बाँध दिया। इतने में एक गाहक आ चुका था। अनवर भाई ने छरा उठाया; पूछा—कितना ?

‘ताजा है ?’

‘खस्सी है न ?’

‘मैं बकरी नहीं काटता।’ मैंने लक्ष्य किया अनवर भाई की आवाज में काफी गर्व है। गाहक क्षणिक को अनवर भाई की गंभीर आवाज से जैसे ससपेंस में पड़ गया हो कि वह कुछ और पूछे, न पूछे। अनवर भाई ने बाँयें हाथ से अपनी पुरानी मखमली जाकिट की जेब से एक बीड़ी और सलाई निकाली और मेरी तरफ बढ़ा दिया, लो पीओ।

इस वक्त तक कुछ और गाहक भी आ चुके थे। अनवर भाई काम में लग गये। एक ने कहा—एक सेर कीमा करके। अनवर भाई ने रान से गोश्त काटना शुरू किया। लेने वारे ने कहा—‘रान के गोश्त का कीमा अच्छा नहीं होगा।’ अनवर भाई ने बिना किसी प्रकार के आवेश के कहा—तो कहाँ का लेंगे ? रान का कीमा सबसे अच्छा होगा।

वक्त दिन के दस से ज्यादा होने जा रहा था। धूप में गर्मी भी बढ़ रही थी। अनवर भाई ने अभी गाहकों के ताँते से फुर्सत पायी थी, एक बीड़ी स्वयं और एक मुझे देते हुए उसने बोरे को उलट दिया और पैसे गिनने लगा। मैंने कहा—अब चलूँ अनवर भाई ! होटल में खोज होगी।

‘जाओगे ?’ अनवर भाई ने कहा। वह इकन्नियों, दुअन्नियों, चवन्नियों आदि का अलग-अलग थाक लगा रहा था। बँधे हुए पाठे ने किया—मैं-एँ-एँ। मैंने उसकी तरफ देखा। धूप की गर्मी से उसके जिस्म में भीताकत कुछ बढ़ रही थी, वह बार-बार रस्सी पर झिट्टी दे रहा था। अनवर भाई ने एक बार उसकी ओर देखा। उसने कहा—लखन, जरा उस छैटे में से थोड़ी-सी घास उसके आगे दे दो। मैंने दे दिया, फिर मैं वापस आकर बैठ गया।

अनवर भाई ने कहा—गिन तो दे, कितने हैं।

गिनकर मैंने बतलाया—अभी तो पैतालिस, चार आने हैं।

अनवर भाई चुप था।

मैंने कहा—अभी एक खस्सी तो आधा से ज्यादा बाकी है।

‘हूँ ।’

‘करीब ६ सेर गोश्त और निकलेगा ?’

‘हूँ. पंदरह रुपयों का ।’ अनवर भाई फिर एकदम चुप हो गया ।

मैंने कहा—“अब चलूँ अनवर भाई ।’

‘अब दूकान यहाँ से उठा दूँगा ।’ अनवर भाई ने कह ।

‘क्यों ?’

‘कोई फायदा नहीं। जानते हो, इन तीन के लिए मुझे कितना देना पड़ा ?

‘साठ ?’

‘हाँ, चौंसठ। मुश्किल से दाम के दाम निकलते हैं आजकल ।’

‘तब क्या करोगे ?’ मैंने पूछा । इतने में पाठे ने लगातार मेमियान। शुरू किया । अनवर भाई पास में गया । उसकी पीठ सहलाने लगा । मैं भी पास जा खड़ा हुआ । अनवर भाई ने कहा—दूसरी छटिया में चने हैं, जरा ले आओ । मैंने लाकर दिया । अनवर भाई ने कुछ चने उसके सामने फैला दिये और फिर उसकी पीठ सहलाने लगा । पाठे ने दो चार चना मुँह में लिया । फिर में-में शुरू कर दिया और रस्सी पर झिट्टे ।

मैंने पूछा—“कितना गोश्त देगा यह ?’

‘अभी तो बहुत खिच्चा है ।’ उसके जिस्म पर प्यार से हाथ फेरते हुए अनवर भाई ने कहा ।

मैंने कहा—झिट्टे दे रहा है । खोल दो, कुछ चर लेगा । अनवर भाई ने खोल दिया । पाठे ने एक छलांग ली, हमसे कुछ दूर-पर खड़ा होकर गर्दन टेढ़ी कर बड़े शान से चारों तरफ देखने लगा । गले में बंधी एक घंटी रह-रह कर टुन-टुन करने लगती । अनवर भाई जरा सा मुस्कराया—‘बेटा छलांग मारता है ।’ आवाज में प्यार था ।

मैंने कहा—इसे पालोगे ?

‘नहीं ।’ थोड़ी देर चुप रह कर उसने कहा—सलीम की बकरी का पाठा है यह । फिर रुक कर, चुप रह कर कहा—महीने भर के बाद सलीम का खतना होने वाला है ।

‘यही करोगे ?’

‘नहीं, नाना के यहाँ ही होगा ।’

‘भाभी कब तक आयेगी ?’

गोश्त और दाने

‘खतने के बाद।’

‘इसे खतने के लिए रख छोड़ा है।’ अनवर भाई ने कहा।

‘कलिया अच्छा होगा इसका।’

‘हाँ। चलना न।’

‘अच्छा।’ मैंने कहा।

‘भाभी से भेंट हो जायगी।’ अनवर ने कहा।

कचहरी का वक्त हो गया था। सड़क के एक छोर से किसी की बकरी जुगाली करती चली आ रही थी। मैंने कहा—अब चलूँ।

‘एक बीड़ी पी लो।’ अनवर भाई ने कहा।

मैंने बीड़ी सुलगायी। बोला—सर्दी से हाथ ठिठुरे-से लग रहे हैं।

‘हुँ, सर्दी इधर पड़ी है।’ अनवर भाई ने कहा।

‘इस सर्दी में तुम अकेले ही रहे।’ मैंने छेड़ते हुए कहा।

‘सलीमना की वजह से। यहाँ सर्दी में बेसंभार हो जाता। नाना के यहाँ घर में और लोग हैं न। वहाँ तकलीफ नहीं होती।’ अनवर भाई ने कहा।

धूप सारी सड़क पर फैल चुकी थी। दानों के लोभ में बकरी छेंटे के करीब चली आयी थी। तभी सलीमना के मुटरू ने एक छलांग भरी और बकरी के सर से टक्कर लेने लगा। अनवर भाई ने कहा—पाठा तैयार हो रहा है।

मैंने पूछा—सलीम तो अब चलता होगा ?

‘बड़ा हरामी हो गया है। अभी पिछले इतवार को गया था। कभी दाढ़ी नोचता, कभी मूँछ।’

‘सेहत अच्छी है न?’

‘कहा तो, हरामी के जिस्म में रुस्तम की ताकत भरती जा रही है। वहाँ जरा अराम है न, मरुआ की माँ का दूध सब अकेला ही पचा जाता है।’

हमलोगों ने देखा, बकरी ने मुटरू की आँख बचाकर मुँह में कुछ चने भर लिये थे। मुटरू ने उसके एक तरफ एक छलांग ली तो बकरी दौड़कर सड़क पर भागी। मुटरू छेंटे के पास खड़ा रहा। फिर गर्दन टेढ़ी कर इधर-उधर एक बार उसने देखा, फिर—उं-उं-उं-उं किया, और एक छलांग लेकर

एकसाँ तीन

पड़क पर । बकरी आगे बढ़ी । मुटरू ने दोनों टांगे उठाकर बकरी नी पीठ पर रख दी ।

अनवर भाई ने कहा—साले के जिस्म में दाने छटपटाते हैं ।

‘तगड़ा है ।’ मैंने कहा ।

इसे खतने के लिए रख छोड़ा है । छुटपन में सलीमना इसके साथ खब खेलता था, न ।’

मैं देखता रहा । उसकी पिछली दोनों रानों में चमड़े के अंदर छिपे गोश्त के पुट्टे तने हुए थे । अनवर भाई ने कहा—‘तगड़ा बनाने के लिए ही तो इसे सूखी घास और चने ज्यादा खिलाता रहा हूँ । कोराई भी काफी खिलाता हूँ ।

‘हूँ’ । मैंने कहा । सड़क तकरीबन खाली थी । बकरी प्यार से, मान से, जरा आगे बढ़ गयी । मुटरू फिर टांगों पर क्षण भर खड़ा हो गया । धूप खूब फैल रही थी । गर्मी आ चुकी थी उसमें, लेकिन फिर भी मीठी । मुटरू को अपने पीछे न देख बकरी ने जरा गर्दन घुमायी । आँखें शीशों-सी चमकीं । प्रकृति ने जोर मारा । मुटरू ने एक छलांग ली । उसका अगली दोनों टांगे उठीं । बकरी उनके भार से जरा नव गयी । जबतक एक मोटर की चें-चें करती हुई हार्न बजी और ब्रेकों का चाँय-चाँय कुछ हुआ । पलक मारते ही मैंने देखा—मोटर की आवाज से बकरी सरक कर सड़क के दूसरे किनारे पर जा खड़ी हुई थी और मुटरू की पिछली दोनों टांगों पर मे कमर से होते हुए, मोटर के दोनों पिछले चक्के गुजर गये थे । मुटरू उठ नहीं पा रहा था । उसकी आँखें फटी हुई थीं और वह बिना रुकावट बें-एँ किये जा रहा था ।

अनवर भाई ने कहा—मोटर वाले की गलती नहीं थी ।

मैंने कहा—‘मुटरू का भी कसूर नहीं था ।’ अनवर भाई अपना बड़ा तेज छुरा उठाकर मुटरू की ओर बढ़ा—अब साला बचेगा क्या ?

सड़क की दूसरी ओर बकरी जुगाली कर रही थी । वह रह-रह कर बें-एँ करते हुए मुटरू की ओर गर्दन घुमा कर देख लेती, फिर जुगाली करने जगती । और, अनवर भाई की दूकान की बगल में दाने बिखरे पड़े थे ।

ब्रह्मा-पुत्र

अकलू ठाठ पर बहता जा रहा था । गाँव में बाढ़ आई थी । ऐसी भयंकर बाढ़ जो आजतक उस गाँव में कभी नहीं आई थी । गाँव का गाँव चौपट हो गया था । रात का अँधेरा जो गाँव में सात ही बजे शुरू हो जाता है, अब घनीभूत हो चला था ।

अकलू ने आसमान की ओर देखा और ठंडक से ठिठुरती आवाज में बोला—“सुक्खो बेटा, सतघरवा इधर चला आया, पहर रात बीत गई है ।

सुखिया ने भी आसमान की ओर देखा । बोली—“हाँ, बाबू । फिर दोनों चुप हो पड़े । काली घनी रात । और छप्पर पर बैठे वे दोनों । हाथ को हाथ नहीं सूझ रहा था । रह-रहकर पानी की बौछार शुरू होती । नजदीक, एकदम, पास-पास बैठने के कारण अकलू सुखिया को देख भर पा रहा था । भींगी, सिमटी, ठंड से ठिठुरती सुखिया ।

अकलू का हृदय भर आया । उसकी किस्मत ही खराब है । आज चालीस-पैंतालिस का वह हुआ । अब तक जिंदगी से लड़ता रहा । जिस दिन से घरवाली मरी, उस दिन से अकेला ही निर्बाह करता आया है । घर वाली मरी तो सुखिया का ब्याह कर दिया । रह गया अकेला । अकेले ही आज तेरह साल से रहता आया है । अकेले खाने-पीने भर को मिहनत करता और संतोष कर लेता । जिंदगी भारी नहीं मालूम पड़ी । और लगी भी तो ख्याल को टालता गया । बीच-बीच में सुखिया आई । लगता, जैसे ऊसर में पानी की दो बूंदें गिर गईं । लेकिन फिर वही एकरसता, वही अकेलापन... बाढ़ तो हर साल आती थी, लेकिन ऐसी कि गाँव-का-गाँव पोंछा जाय, कभी नहीं आई थी ।...

बाबू, हमलोग कहाँ पर हैं ? गाँव से दूर हैं क्या ?”

अकलू का ध्यान टूटा । उसने चारों तरफ नजर दौड़ाई और इधर-उधर देखता हुआ बोला—हाँ रे, कुछ दूर तो निकल आये हैं ।

“और कोई भी दह रहा है ? मुझको तो लगता है कि हमलोगों के सिवा और कोई नहीं ।”

“लगता तो है ऐसा ही । पुकारूँ ? शायद कोई जवाब दे दे ?”

“पुकारो । लेकिन कोई है नहीं । निगोड़ी बाढ़ किसी को छोड़े भी तब तो !”

“निगोड़ी बाढ़” अकलू के दिमाग में गड़ गई । उसने पुकारा—हरखू भइया हो ! हरखू भइया ! जितना रे, है रे जितना...

आवाज दूर से प्रतिध्वनि करती हुई लौट आई । बढ़े हुए पानी की धारा की आवाज सायँ-सायँ और रहकर गिरते या गिरे हुए मकानों की मिट्टी के टूट-टूटकर गिरने की छप-छप आवाज !

अकलू ने कहा—उहुँक, कोई नहीं... कोई नहीं, सब खतम ।... जिंदगी की लंबाई भी खतम होती है, लेकिन कितना धीरे-धीरे । वह तो हर साल से जिंदा, अकेला, रहता आया है । जिंदगी जरा-जरा करके खतम होती है, लेकिन इस बाढ़ ने एकबारगी बिना एलान किए कितनों को खतम कर दिया । वह भी खतम हो जाता तो अच्छा होता । यह बाढ़, गाँव के गाँव का उजड़ना, अपने-परायों का खतम होना तो देखने को नहीं बचा रहता । वह अपने मकान के छप्पर पर बह रहा है !... कौन जाने, आज की रात वह भी खतम नहीं हो जायगा ! हाँ, कौन जाने, या इससे भी बुरा कि दस रोज भूखे-प्यासे रहने के बाद कलट-कलट कर उसकी जान जाय ?... और तब सुखिया ? वह बची रह सकती है, अभी उसकी उमर ही क्या है, देह में ताकत है, जल्दी तो मरे.... छी छी, वह भी क्या सोचने लगा । मगर हाँ, अगर वह मर गया और सुखिया अकेली रह गई तो ?”

और बिजली की तरह सुखिया के कहे शब्द उसके दिमाग में नाच उठे—निगोड़ी बाढ़ ।... सुखिया भी तो काफी बढ़ गई है ।... आजतक उसका इधर ख्याल ही नहीं गया था ! सुखिया भी तो अब बच्ची नहीं । हाँ, सतरह, नहीं, सतरह नहीं, अठारह... उहुँक... अभी तो सतरहवें में

ही होगी या पार कर रही होगी ।... ठीक ही तो, निगोड़ी बाढ़... बढ़ गई और लुट गई ।... उँह! कल तक क्या था ! आज क्या हो गया ? और सुखिया दुख की मारी तीन साल तक विधवा बनकर ससुराल में सड़ती रहने के बाद आई बाप के यहाँ कि जरा आराम से रहेगी । लेकिन...

फिर बड़े जोर की खाँसी उभड़ी । अकलू बेदम होने लगा और दोनों हाथ से पंजरों को दबाए खों-खों करने लगा । आसमान से हल्की झींसी अभी भी पड़ रही थी । सुखिया ने कहा—बाबू, तुम भीग रहे हो, कुछ ओ लो न, नहीं तो बुखार और बढ़ जाय कहीं ।

“दूर पगली.” खाँसी-रोकते हुए अकलू बोला—अरे, बुखार क्या बढ़ेगा । फेफड़ों में कफ भर गया है । खाँसूँगा तो बलगम छूट जायगा ।”

“ना बाबू ।” कहती हुई सुखिया ने हाथ अकलू के कपार पर रख दिया । ललाट तवे-सा जल रहा था । उसने कहा—बाबू, बुखार तेज है, किसी चीज से ढँक लो न ।

“पगली, किस चीज से ढक लूँ । क्या है यहाँ ? जो कुछ पहन हूँ, वह तो गीला ही है ।”

सुखिया इस आपद-काल में ज्यादा घबड़ा उठी—“बाबू, तुम्हीं तो एक सहारा हो... ।” और उसकी आवाज भर्रा उठी ।

“अरे, बिटिया, मैं तो अभी हूँ ही । रात भर में कुछ हो तो जायगा नहीं । शायद कल कहीं कुछ किनारा लग ही जाय ।”

और बिटिया अकेली कहीं रह गई सचमुच तो ? क्या करेगी वह ? और यह ऐसी बाढ़, काली माई के प्रकोप जैसी, पानी के निकलते-निकलते दिन लग जायँगे । और फिर उसके बाद क्या ? कौन-ठिकाना होगा इस गरीब का ।... वह आगे नहीं सोचना चाहता था, लेकिन बार-बार ख्याल जिंदा चमड़े पर तेज चाकू से बनाये गये अक्षरों की तरह उभड़ आता... कल होकर कहीं सुखिया अकेली रह गई और गांधी-टोपी वाले वालंटर लोगों ने देख लिया तो... क्या-क्या दुर्गति उसकी नहीं करेंगे वे सब... निगोड़ी बाढ़...

सुखियाने रुआँसी होकर कहा—“बाबू, एक काम करो”
“क्या ?”

“तुम अपने कपड़े उतार दो । मैं उसे गार देती हूँ । फिर पहन लेना, कुछ तो सूखा हो जायगा ।”

“फिर पानी से भींग जायगा ।” कहकर अकलू खाँसने लगा ।

सुखिया चुप हो गई । ठंड उसे भी लग रही थी । लेकिन क्या करे ? चारों तरफ दूर-दूर तक पानी, पानी, बस पानी । . . . हाय, कैसी उसकी किस्मत है । अभी दो हफ्ते पहले आई बाबू के यहाँ कि जरा धीरे-धीरे साँस लेगी सो देखो तो निगोड़ी बाढ़ आ गई . . . और ऐसी . . .

चारों तरफ सन्नाटा था । अजीब भयावना सन्नाटा और बाढ़ के तेज पानी का सर्र-सर्र और फिर भींग-भींग कर टूटती मिट्टी का छपाक । उसमें अकलू का रह-रह कर खाँसना और फिर एकदम सन्नाटा । सन्नाटे से घबरा कर सुखिया बोली—“बापू, कितने पहर रात और होगी ?”

“कितने पहर ? अरे अभी तो घड़ी से आठ-नौ बजा होगा ।”

“ओह . . .” ओर एक लंबी साँस खींचकर सुखिया चुप हो गई ।

वह फिर खाँसने लगा । सुखिया ने देखा, अकलू की खाँसी बढ़ती ही जाती थी । उसने सोचा उनके इस छप्पर पर दहते चार घंटे से ज्यादा हो गये होंगे । बापू को सर्दी ज्यादा लग रही है । ओह, अभागिन वह, करे क्या ? . . . बापू को बच तो जाना चाहिए, देह-हाथ से तो अभी काफी तगड़ा है । . . . लेकिन उससे क्या, उसका आदमी तो अभी जवानी पर पैर रखना चाहता था . . .

तभी अकलू ने कहा—बेटा, सर ज्यादा भारी मालूम हो रहा है, जरा-सा-खिसक तो लेट जाऊँ . . . सोऊँगा नहीं—लेटते-लेटते अकलू ने कहा, जरा देह सीधी तो कर लूँ ।

सुखिया ने फिर माथे पर हाथ रखकर देखा, ज्यादा गर्म था । इधर पानी का भी जोर शुरू हुआ । सुखिया बोली, बाबू लाओ, कपड़े गार दूँ, तब पहनना ।

“दूर पगली, उससे क्या होगा । देखती नहीं पानी जोर करता ही जा रहा है । जबतक तू गारेगी, कपड़े भींग जायँगे ।”

“नहीं, फिर भी कुछ तो पानी निचोड़ ही दूँगी । लाओ, तुम अंगोछी लपेट लो ।”

एकसी आठ

अकलू ने वैसा ही किया। सुखिया ने धोती और निमस्तीन के पानी निचोड़ दिये। फिर अकलू को पहनने को दे दिया। कपड़े अकलू पहन रहा था और सर पर काफी तेज बारिश हो रही थी। अकलू हँस कर बोला, देख, इतनी मिहनत तेरी बेकार गई न।

सुखिया सोच रही थी, अगर किसी चीज से जरा सा भी आड़ कर सकती।.....तभी पानी में डूबता-उतराता-छटपटाता एक सियार छप्पर के पास से गुजर गया। सुखिया बड़े जोर से चौंकी और अकलू की ओर गिरते-गिरते बोली—“बाबू ?”

अकलू हड़बड़ा कर आधा उठ बैठा और जरा-सा हँसकर बोला—“क्या बिट्टो, डर गई ?”

“वह.” उँगली से पानी के हल्कों की ओर इशारा करते हुए बोली—“वह क्या था, बाबू ?”

“कोई जानवर रहा होगा। घबरा नहीं।” कहकर अकलू फिर बाँह का तकिया बना बाँस की ठठरों पर लेट गया।....हुँ, अकेलापन तो वह काटता आया है, आया अकेला, रहा अकेला, जायगा भी अकेला..। एक-एक दिन, लंबी-छोटी रात....।

और सुखिया ने तब जाना—बाबू के बिना वह अब कितनी निस्सहाय है। अकेली रह जायगी तो?...न...बाबू को वह अपने जानते मरने न देगी, न देगी।....

उसने कहा—“बाबू !”

“क्या है री ?”

“मैंने एक उपाय सोच लिया है ?”

“क्या, क्या ?”

“तुम लेटे रहो। मैं अपनी साड़ी निचोड़कर दुहरा कर तुम्हारे ऊपर ताने रहती हूँ। जब पानी से भीग जायगी तो फिर गार दूँगी।”

“अरे, पगली !”

“नहीं बाबू, तुमसे लाज काहे की। जान बचेगी तो उसके लिए बहुत वक्त मिल जायगा।”

सुखिया बाबू के समथन के लिए रुकी नहीं। उसने कहा—तुम उधर कर फेर लो। और अंगोछी मुझ दे दो।

अंगोछी लकर सुखिया ने पहले निचोड़ लिया, उसके बाद उठ खड़ी हुई। लेकिन गिरने-गिरने हो गई। बाँस का छप्पर डगमगाने लगा था।

अकलू ने कहा—ठहर। वह उठ बैठा और एक किनारे दूसरी ओर मुँह घुमाकर बैठ गया। सुखिया तब दूसरे किनारे खड़ी होकर कपड़े बदलने लगी। उसने अंगोछी लपेट ली। चोली उतारकर उसे निचोड़ लिया। फिर उसे पहनकर साड़ी निचोड़ कर उसने उसे दुहराया और तब बोली, बाबू, अब तुम लेट जाओ, मैं ठीक हूँ।

अकलू के लेट जान पर उसने दुहरी साड़ी उठाई और पाँव के बल बैठकर हाथों को पानी और अकलू को ढँके रही।

फिर सन्नाटा। पानी का वही सर्ग-सर्ग। अकलू करबट लेटा था। बुखार कुछ बढ़ रहा था। सर उसका भारी होता जा रहा था। नसों में जैसे ऐंठन घुस रही हो। वह फिर खाँसने लगा। छप्पर डगमगाने लगा। अकलू बर्दाश्त नहीं कर सका। बोला—ब्रेटी, खाँसी बहुत उठ रही है और दम फूल रहा है।

“बाबू, चित लेट जाओ, कुछ शायद आराम दे।”

चित लेटता हुआ अकलू बोला—चारों तरफ के पानी पर बरसा की आवाज सुन रही है? पानी और जोर से पड़ने लगा है?... लगता है प्रलय होकर रहेगा।

तभी सुखिया ने आसमान की ओर देखा। बादलों से भरा, जैसे दैत्य हो। मन में सोचने लगी—ब्राहि-ब्राहि करके यह पहाड़ जैसी काली रात तो कटे!...

बादलों की भाग-दौड़ मची हुई थी। जोरों से गरजने के साथ-साथ बिजली चमकी, बड़ी तेज।

आँखें झपकते-झपकते अकलू ने देखा, अंगोछा में लिपटी आधे जाँघों से नंगी, ऊँची भरी छाती में चिपकी-चिपकी गीली चोली से अधकड़ी सुखिया।...

फिर घुप्प अंधेरा। अकलू ने कहा—बिटिया, अब मैं अच्छा हूँ, तू सो, मैं बैठूँगा।

“नहीं बाबू, तुम आराम करो, देखो तो माथा तबे-सा जल रहा है।”..

अकलू चुप पड़ रहा। पानी झम-झम पड़ता रहा। कुछ देर सन्नाटा रहा। ऊँह, यह अजीब सन्नाटा है। कैसा भारी-भारी-सा। तबीयत घबराती है, न कोई आदमी, न आदमजाद। बस, ये दोनों और भयावनी रात और बाढ़ का पानी?... तबीयत खराब है ही। साँस घर-घर चलती है। बार-बार खाँसने पर कफ छूटता क्यों नहीं?... उस दिन; पर साल रामलगन भी इसी तरह खाँसता था।... शहर का डाक्टर आकर बोला, निमुनिया है।... बेचारा मर ही गया।...

रामलगन की याद से ही जी घबराता। कैसी भयावनी आँखें हो आई थीं उसकी। न, वह नहीं सोचेगा इन सब चीजों के बारे में? नाहक, फायदा क्या?..

हाँ, वह नहीं सोचेगा, कुछ नहीं सोचेगा। सोचते रहने से नींद नहीं आयेगी। और जबतक जगा रहेगा, खाँसता रहेगा। न, नहीं सोचेगा, कुछ नहीं।...

और दम साधकर अकलू पड़ा रहा। क्षण पर क्षण बीतते गये। एकदम सन्नाटा और पानी का रिम-झिम, रिम-झिम।... लेकिन आज यह हुआ क्या? ऐसी बाढ़.... निगोड़ी बाढ़.... हाँ, निगोड़ी बाढ़ ही तो.... उसके तो अभी खाने-खेलने के दिन थे.... कैसी फूल-सी देह है। उस पर.... लेकिन नहीं, फिर उसे खाँसी आ रही है, वह चुप, बिना कुछ सोचे, पड़ा रहेगा।

हल्के से एक बार खाँसकर अकलू निश्चेष्ट हो पड़ा रहा। क्षण-पर-क्षण बीतते गये। सन्नाटा उसे भारी लगने लगा। अच्छा, वह बोलेगा किससे, सुखिया से? लेकिन क्या?... ऊँह, हटाओ, इतना घबराना क्या? इतने सारे लोगों का न जाने क्या हुआ होगा। वह तो अभी जिंदा तो है न..... और बिटिया भी है ही बची हुई।... लेकिन कैसी भयावनी खाँसते-खाँसते निकली हुई थी उसकी आँखें, रामलगन की...

अकलू ने और जोर से आँखें मीच लीं। घबराकर फिर खाँसने लगा। तभी सुखिया ने कहा—बाबू, कैसी तबीयत लग रही है?—आवाज उसकी घबराई हुई थी।

“ठीक ही तो है।”

“क्या ठीक है ? या काली मइया, उबार दो, जो बनेगा सब करूँगी, हे भगवान जी !”

अकलू फिर हँसा और खोयें-खोयें करके बोला—बिट्टो, रामलगन की तुझे याद है ?

“कौन बापू ?”

“अरे पंसारी, पुरबारी कोने पर ।”

“हाँ ।”

अकलू चुप हो पड़ा । सुखिया इंतजार कर रही थी कि बाबू क्या कहना चाहता है । फिर बोली—“वह तो परसाल मर गया न, वहाँ खबर मिली थी ।”

“हाँ, और कैसी निकली-निकली आँखें थीं उसकी । देखती तो घबरा जाती, खाँसते-खाँसते निकली हुई आँखें । सोचने से रोंगटे खड़े हो जाते हैं ?”

“जाने दो, बाबू, क्यों डरानेवाली बात सोच रहे हो । सो जाओ न ।”

“भला देखो तो पगली को ! नींद आयेगी ? सर तो इतना भारी है, फिर ऐसी हालत और इतनी खाँसी ! तू सोयेगी तो सो जा, मैं जागता बैठता हूँ ।”

“सर सहला दूँ बाबू ?”

“तू तो सब करेगी । चंदोबा भी टांगेगी, सर भी सहलायेगी और मेरे सो जाने पर निडर होकर बैठी भी रहेगी ।...छोड़ दे, अब साड़ी हटाले । हाथ थक गये होंगे ।”

“नहीं बाबू, हाथ क्या थकेंगे ?”

“थक ही गये होंगे, छोड़ दे ।” कहते हुए अकलू ने हाथ बढ़ाकर सुखिया की बाँह पकड़ ली और कहा, छोड़ दे बेटा ! हुआ तो ।”

सुखिया की गोल-चिकनी बाँह पानी से भींग कर एकदम सर्द हो रही थी । अकलू गीला होकर बोला—बिट्टिया, भगवान न करे, लेकिन कहीं तुझे सर्दी लग गयी तो ? छोड़ दे ।

“अच्छा तो लाओ, तुम्हारा सर सहला दूँ ।” बोलते-बोलते बहुत रोकने पर भी सुखिया के दाँत ठंड से आपस में बज उठे ।

“ओह, राम-राम तू जान देने पर पड़ी है क्या, बेटा ?...सुन कपड़े अपने सब निचोड़ ले और आ, लेट रह । मैं इस साड़ी को निचोड़ कर पानी रोकता हूँ ।

एकसी बारह

“ना बाबू, यह कैसे होगा ? तुम्हारी तबीयत खराब है । तुम लेटो । मैं पानी रोकती हूँ ।

“ना, ना :”

“हाँ, बाबू ।”

“अच्छा तो एक काम कर । मैं लेट जाता हूँ, तू भी लेट जा । इसे निचोड़कर मैं एक खूँट सर से दबा लेता हूँ और दूसरे अँगूठे से । इसमें दोनों आदमी अँट आयेंगे ।”

“अच्छा तो मैं सर दबा दूँगी ।”

“अच्छा, अच्छा, लेट भी, जाड़े से तो दाँत कटकटा रहे हैं, ओह !”

फिर दोनों लेट गये । लेकिन पानी पर तिरते जाते और ऊपर से बारिश । ठंड से सुखिया की देह अकड़ रही थी । उसने जो अकलू के सर पर हाथ रखा तो बुखार की गर्मी बड़ी अच्छी लगी । अकलू चुप लेटा रहा । उसके दिल से इस सन्नाटे का भारीपन नहीं जाता ।... ऊब-ऊब कर भी वह जिंदा रहता आया है ।... शुरू से ही कभी जिंदगी में डूबकर वह नहीं जी पाया । बाप अकेला था, उसके साथ खेतों पर काम करता और फसल की रक्षा की चिंता में दिन बिताता । उसके बाद ? उसके बाद बिंदो आई और गोद में तीन साल की बिटिया को छोड़कर चली गई । और फिर वही खेतों पर काम करना, फसल की रक्षा की चिंता और घर में आकर अपने हाथों रसोई पकाना ।... बिटिया तो अपने चौथे साल से ही समुराल में रही... बेचारी ।

सुखिया बाप से लिपटती हुई बोली—बप्पा, बड़ी ठं क मालूम होती है । तुम्हारी देह तो जर रही है ।...

“बिटिया, इस दुख में जहाँ तक आराम से सो सकती है, सो जा ।” अकलू का गला भर आया था । उसने सुखिया को अपनी गर्म देह से चिपटा लिया । “बिटिया !”

सुखिया दुबकी पड़ी रही । पानी का बरसना अब बंद हो चुका था । बादल कुछ फट चले थे । बादलों की भाग-दौड़ से चाँद कभी-कभी नजर आ जाता । उसकी धुंधली रोशनी में भागते काले-काले बादलों की परछाईं चारों तरफ के फैले हुए पानी पर अजीब-अजीब भयावनी तस्वीर बनाती-बिगाड़ती । हवा भी कुछ धीमी पड़ गई थी ? सन्नाटा और गहरा हो

चला था; केवल बाढ़ के पानी की, जमीन पर तेज रेंगते हुए अजदहे की-मी आवाज भी । . . .

अकलू मुखिया को कलेजे से लगाए पड़ा रहा । अब वह रामलंगन की बड़ी-बड़ी भयंकर निकली हुई आँखें नहीं देख रहा था । उसके ख्याल उधर से हट चुके थे । मस्तिष्क गिथिल पड़ता जा रहा था । वह सोच रहा था, रह-रहकर, चारों तरफ पानी ही पानी है, अकेला वह बाँस की ठठुर पर बहता जा रहा है । किसी तरह की मदद पहुँचते-पहुँचते भी दिन लग जायेंगे । तब तक ? तब तक भूखा-प्यासा वह और मुखिया तड़पते रहेंगे और बहते रहेंगे . . . कल दिन में, रोशनी में शायद कहीं कोई मिल जाय ! और अगर नहीं मिला तो ? नहीं मिलने पर कैसा लगेगा कल का दिन ! सत्ताया दूर-दूर तक पानी . . . दूर-दूर तक कहीं कोई नहीं . .

मुखिया चौकी । उसने कहा—बाबू, बाबू ! और हाथ अकलू के सर पर रख दिया । सर उसे ज्यादा गर्म मालूम पड़ा । अकलू बोला नहीं, कोई जवाब मुखिया को मिला नहीं । उसने फिर हिलाया उमे और पूछा—बाबू, जी कैसा है ?

“अच्छा ही है मुखिया !” एक लंबी काँपती-सी साँस लेकर अकलू ने कहा ।

“सर ज्यादा गर्म मालूम हो रहा है ।” मुखिया की आवाज में परेशानी थी ।

अकलू कुछ बोला नहीं । मुखिया मन ही मन घबराती रही । बाबू की तबीयत ठीक नहीं लगती, जाने क्या हो । और मुश्किल यह कि वह कुछ सामान भी साथ न ले सकी, न ओढ़ना, न बिछावन । . . . अरे बक्म और रूप-कौड़ी तो ऐसी आफत की हालत में लेना किसे सूझता, लेकिन कुछ जरूरी चीजें . . . मन उसका घबरा उठा—क्या होगा, क्या होगा, ओह ! . .

मुखिया ने कहा—बाबू सदी ज्यादा मालूम हो रही है, क्या ?

“बाबू !” जोर से मुखिया ने पुकारा ।

“क्या ?” अकलू की आवाज ठिठुरी हुई-सी निकली ।

“बाबू, तबीयत कैसी लग रही है ?” घबराई-सी मुखिया बोली ।

“ठीक ही तो है सुखो !” कुछ अनमने भाव से अकल बोला ।

“बाबू, सब कहो, तबीयत कैसी है ? कहो न !”

“सुखिया,.... ठंड कुछ ज्यादा मालूम हो रही है ।.... कितनी रात गई है ?” अकलू की आवाज बड़ी धीमी, बड़ी हल्की, रक-रक कर आई।

“कैसे कहूँ ? कुछ अंदाज तो लगता नहीं ।”

“सतघरवा भी तो नहीं सूझेगा ।” अकलू की आवाज और धीमी आई।

“उहूँक !” सुखिया की आवाज में परेशानी थी।

फिर दोनों चुप हो गये । रह-रहकर हवा के तेज झोंके आते, जिनसे पानी में अधडूबे दूर खड़े पीपल-आम के गाछों की पत्तियाँ सरसरा उठतीं । फिर रह-रहकर सन्नाटा, एक अजीब निस्तब्धता अकस्मात् ही जैसे आकर उन्हें ढक लेती । पानी का बरसना रक चुका था, फिर भी मेघों की भाग-दौड़ चल रही थी और चाँद के रहने पर भी आसमान अंधेला घुप्प था ।

सुखिया ने बाबू का सर सहलाने-सहलाने एक लंबी साँस ली और चित्त हुई कि जरा धोती से बाहर सर निकाल-कर आसमान में देखे, शायद सतघरवा दीख जाय तो वक़्त का पता लगे । लेकिन आसमान में विकराल जानवरों और दैत्यों से मेघों के विशाल टुकड़ों को देखकर वह काँप गई । उसने अपनी आँखें मीच ली । डर से उसके रोंगटे खड़े हो आये । हाय, क्या होगा ? आखिर यह रात खत्म भी होगी.... और कैसे ? किस तरह ? कौन जाने !..

उसकी आँखें झपक गई थीं शायद ... जरूर झपक गई होंगी ... उसे भ्रम हुआ होगा ... या हाय छू ही गया होगा बाबू होश में लगता नहीं । बुखार में माता हुआ है । जाने उसके करम में क्या है ..

तभी फिर झीसी पड़ने लगी । कुछ क्षण तो इस दुख में भी सुखिया का बालजन्म कुतूहल जग पड़ा । क्षण भर के लिए चेहरे पर पड़ती झीसी उसे अच्छी लगी, लेकिन कुछ ही क्षण । वह तब अकलू की ओर घूम कर धोती में सर छिपाते हुए बोली—बाबू, पानी तो फिर आ गया । आवाज में फिर परेशानी थी ।

“तो क्या होगा सुखिया ? आने दे ।”

“तुम्हें तो यों ही ठंड मालूम हो रही है । उस पर यह पानी ! हे भगवान !”

“ऊँह, सुखिया, तू नाहक घबराती है । भगवान-भगवान करने से अब क्या होगा, सुखी ! अब तो इसे सहना ही है ।.... और आज इस अंधेरी

रात में परेशानी में पड़कर, अकेलापन भी क्या बुरा है? हम दोनों अकेले हैं। दोनों ही। दो ही हैं, बस। लेकिन है तो, हम भी, तुम भी।... अकलू को खाँसी आ गई। सुखिया बोली—ज्यादा मत बोलो बाबू; तुम्हारी खाँसी उभड़ आती है !”

अकलू चुप पड़ा रहा। सुखिया उसकी खाँसी रोकने के लिए उसके पंजरे को जोरों-से दबाये हुए थी। इस पानी पर चाहे-अनचाहे बहते हुए अकेलेपन में, प्रलय में, आपदविपद में अब यही उसका बाबू सहारा रह गया है... अगर आज बाबू कहीं नहीं रहता तो?... और कहीं औरों की तरह वह भी किसी दीवार से दबकर पानी में पड़ा रहता तो... आग वह नहीं सोच सकती... इस ठट्ठर पर अकेली जाने वह कहाँ बहती, कैसे बहती, क्या करती !... उसका हृदय भर आया। वह नन्ही बच्ची की तरह बाबू से लिपट गई, जैसे उसका बाबू, यदि वह उसे अपनी बाँहों में बांध नहीं रखती, तो कहीं उसे छोड़कर भाग न जाय, चला न जाय। आर्द्र होती हुई सुखिया बोली—“बाबू..” और अधिक कसकर वह बाबू से लिपट गई।

“फिर डर गई सुखिया।” अकलू ने धीरे से पूछते हुए सुखिया को छाती से लगा लिया। वह उसकी पीठ सहलाता हुआ बोला—डर मत सुखिया, मैं हूँ।

फिर दोनों चुप हो गये। वक्त बीतता गया। नींद दोनों में किसी की आँखों में न थी। सुखिया केवल थकान-सी महसूस कर रही थी। छः-सात घंटों की लगातार घबराहट और निराहार रात्रि, फिर बाबू की बीमारी, उसकी चिंता, सभी पहले उसकी नसों को झकझोरते रहे और अब वे शिथिल पड़ रहे थे। वह अब सोच नहीं पा रही थी। बाहर का ठूनापन, सघनाटा जैसे उसके दिमाग में घुसता जा रहा हो। वह चुप पड़ी रही। अकलू उसकी पीठ थपकता रहा।

चुप पड़े रहने के कुछ देर बाद अकलू बोला—सुखिया ! सुखिया अर्धनिदाई-सी बोली—आँ... क्या बाबू ?

“नहीं, कुछ नहीं। यों ही पुकारा, सोचा तू सो गई है।”

“भला नींद आयेगी बाबू !”

“फिर भी सुखो, सो जा अब, मैं तो जगा ही हूँ।”

“तुम सो रहो न । तबीयत कुछ हल्की हो जायगी।” सुखिया स्नेह से बोली ।

“अच्छा, लेकिन तू भी सो रह । अब तो रात बीतने पर ही... डर तो कुछ है नहीं । और काहे का ? कोई बचा भी हो ।”...

अकलू चुप हो पड़ा । वक्त काटे नहीं कटता । और सुखिया को भी भला नींद क्या आयेगी । घबरा रही है ।... लेकिन यह भी खूब है । नाव पर चढ़कर लोग शौक से घूमने जाते हैं । यहाँ जबर्दस्ती ही, ठाठ पर भँसना पड़ रहा है ।... बुरा भी क्या है ।... कल कौन जाने रामलगन की ही तरह वह भी चलता बना तो... कल का कौन जाने ?..

वह फिर निश्चल पड़ा रहा । सुखिया वैसी ही दुबकी पड़ी रही । पीठ सहलाते-सहलाते अकलू बोला—सुखिया, पानी फिर जोर कर रहा है । आवाज बड़ी हल्की, बड़ी धीमी आई ।

सुखिया चुप पड़ी थी । वह सुगबुगाई तक नहीं । अकलू तब धीमे बोला—सो गई क्या, सुखो ?

सुखिया की साँस बराबर चल रही थी । अकलू ने सोचा—सो गई शायद ।... कि उसने सुना ही नहीं ?... न, सुना क्यों नहीं होता ? जगी रहती तो... सो ही गई...

बाहर का सन्नाटा मौत-सा, अपनी ही आवाज को सुनकर अकलू को जैसे चारों ओर से घूम-घूम कर घेरने लगा । ... यह अकेलापन... जिंदगी... इतनी खाली ही रह गई है यह... सुखिया बोलती, तो कम से कम ऐसा लगता कि वह अकेला नहीं... सो गई है, नहीं तो बोलती जरूर... लेकिन अभी-अभी तक तो जगी हुई थी ।... तो नींद आ गई होगी ?...

वह उसकी पीठ पर हाथ फेरता रहा । चोली तो एकदम गीली है ।... पानी जो पड़ रहा है ।... और देखो तो घबराहट कि नींद आ गई ।... नहीं, लेकिन इतनी जल्दी नींद नहीं आई होगी... शायद... जगी हो... ।

तभी उसने फिर बहुत हौले, बहुत आहिस्ते पुकारा—सो गई सुखो !... बोलती नहीं... ।

... सो ही गई ?..

उसने सुखिया को कलेजे से और लगा लिया और उसकी पीठ सहलाता रहा, ... सब गये, वह बचा ह ।... अकेला रह जाता तो ?

... तो शायद बचता नहीं... किसके-किसके लिए बचता ?... लेकिन देखो तो कि वह है तो सुखिया भी बची है

“कैसी बेखबर मोई है कि भीग रही है और पता नहीं।” बहुत हल्के जैसे अपने आप से कह रहा हो। उसने सुखिया के टिहुनों पर धोती ढक दी।

“ओह कमर तक तो भीग रही है।” जैसे अपने आप में बोला वह...

“बाबू !” सुखिया घबराई-सी बोली।

“बाबू, सो गये ?” उसे झकझोरते हुए सुखिया बोली।

उसकी आवाज उनींदा थी।

“मैं बहुत देर से सोई थी, क्या ?”

“ऊँ, देर से ? नहीं तो ?... मैं भी कुछ झुक गया था शायद।”

“तो सो जाओ, नाहक ही तुम्हें जगा दिया।”

“तू सो, मुझे क्या नींद आयेगी।” उसकी आवाज काँप रही थी।

“तुम्हें तो ठं लग रही है बाबू।”

“हाँ... कुछ...।”

सुखिया उससे और सिमटती हुई बोली—“पानी भी काफी जोर से बरस रहा है।” जैसे और कुछ बात करने को हो ही क्या...

उसने सुखिया को टटोलते हुए कहा—“तू... तू तो एकदम भीग गई। राम-राम ।... इधर आ, जो पानी रुक सके।

सुखिया और सिमट गई। धोती से उसे अच्छी तरह ढकते हुए वह बोला—“बुखार से मेरी देह गर्म है। तुझे कुछ तो सर्दी कम लगेगी। पैर भी ढक ले, ढक ले, कुछ तो पानी से बचेगा ।... और उसने सुखिया के टिहुनों को धीती के अंदर खींच लिया।

“ओह, यह एक अंगोछी में भला तू क्या ढकी रहेगी सूखो।” इधर-उधर टटोलते हुए अकलू ने कहा,—एकदम गीली हो गई है। ला, इसे निचोड़ दूँ।”

“रहने भी दो बाव !”

“निचोड़ दूँ तो कम गीला लगेगा। ला।”

एकसी अट्टारह

“मैं निचोड़ लेती हूँ, तुम पड़े रहो।”

“अरे, मैं निचोड़ लूँगा न, और धोती भी निचोड़ लेता हूँ।”

“ऊँह, छोड़ो भी, अब धोती पहनूँ, फिर अंगोछी पहनूँ, इसकी जरूरत ही क्या?”

“बड़ी आई, बूढ़ी बनने की जरूरत ही क्या?... और अँधेरा तो इतना है। ला, धोती और अंगोछी दोनों जल्दी ही साथ निचोड़ लूँगा।”

मुखिया कुछ चुप रहकर बोली—छोड़ो भी।

“ला, ला। जबनक जिदा हूँ, हूँ, नहीं रहूँगा तो देखने थोड़े ही आऊँगा कि सुखो किस तरह जी रही है।”

मुखिया इस पर ‘ना’ न कह सकी। अंधियारे में अपने आप में ही गर्माती लेटी ही लेटी वह अंगोछी खोल बैठी और घबगती-मचलती बोली—ऐसे असगुन की बात तो न बोलो बाबू !

“अरे, असगुन क्या ! बूढ़ा हो ही चला।” धोती कंधे पर रख, अंगोछी निचोड़ने के लिए हाथ में लिए वह ज्यों ही उठ खड़ा हुआ, ठट्ठर बड़े जोर से एक ओर को दबी। मुखिया ने ठठर में ऊँगली फँसाते हुए चिल्ला कर कहा—बाबू, सँभलियो।

तभी पानी में छपाक से आवाज हुई और हाँफता हुआ अकलू बैठ गया—अभी तो पानी में गया था, मुखिया।

बाबू का हाथ पकड़ती हुई मुखिया बोली—ना, ना, छोड़ो, अंगोछी गीली हो रहने दो।...

बीच ही में, हारे हुए की तरह वह बोला—अंगोछी तो डगमगाने से हाथ से छूटकर पानी में गिर गई, सुखो।

मुखिया कुछ क्षण तक चुप रह गई। फिर बोली;—जाने दो बाबू, तुम बचोगे तो फिर आ जायगी।

“एक काम कर, वह बोला, “मैं यह धोती निचोड़कर तुझे दे देता हूँ, डाल ले।”

“अच्छा।” मुखिया बोली। वह बैठा-ही-बैठा धोती निचोड़ने लगा। मुखिया चुप सोचती रही—एक अंगोछी थी, वह भी गई। दुख में परछाँई भी साथ नहीं देती...

वह बोला—ले, डाल ले। मुखिया चुप पड़ी रही। कुछ बोली नहीं। अकलू न फिर कहा—डाल ले इसे।

सुखिया बोली;—और तुम ?

“मैं क्या ?”

“तुम ओढ़ोगे क्या ?”

“दूर पगली, ओढ़ना भी क्या जरूरी है।”

“नहीं बाबू, तुम्हारी तबीयत भी तो ठीक नहीं।”

“डाल ले, पानी में भींग रही है।”

“ना, तुम ओढ़ लो। रात तो है। तुम्हें नींद आ जायगी और यहाँ दूसरा है ही कौन यहाँ? जब धूप निकलेगी तो इसे डाल लूँगी।”

“ऊँहूँक इसे डाल ले।”

“ऊँहूँक।” कहकर सुखिया अपने में ही मिमट गई।

वह कुछ देर तक चुप रहा। फिर ठाग हुआ—सा बोला—“तेरी भी जिद्द है।” आवाज में स्निग्धता थी। “तो एक काम कर, चोली भी निचोड़ ही ले। अबतक काफी भींग गई होगी।”

सुखिया ने बात मान ली। बैठकर चोली निकालने लगी, पानी से भींगकर चोली बदन से चिमटी हुई थी। कहीं ठट्ठर फिर न डगमगाये, इस डर से उसने बिना हिले-डुले जो चोलीं खींचकर उतारना चाहा तो वर्षों की पुरानी कमजोर, सड़ी हुई चोली बिना एलान किए हुए पीठ पर से जो चली तो बेतरतीब झधर-उधर फट गई। वह माथा ठोककर बैठ गई।

“लो बाबू, यह भी बनी।”

अकलू चुप रहा। सुखिया अपराध की आवाज में बोली—बाबू, यह तो एकदम फट गयी। हाय, यह भी गयी। अब ?

वह गम्भीर होकर बोला—ले, धोती डाल ले।

सुखिया ने तभी बड़ी दृढ़ आवाज में कहा—अंगोछी गई, यह भी गई। अब तो सुबह ही धोती डालूँगी तुम ओढ़कर पड़ रहो।

“तू बड़ी जिद्दी है सुखिया। डाल ले न इसे।”

ऊँहूँक। अब सुबह। तुम सो जाओ।”

वह तब लेटते हुए बोला—और तू पानी में भींगेगी ?

“कोई हर्ज नहीं ?”

“तो ले, मैं भी भीगूँगा।” धोती को बदन पर से हटाते हुए वह बोला।

ब्रह्मा-पुत्र

सुखिया कुछ देर चुप पड़ी रही। फिर बोली, दोनों जन भीगें इससे फायदा ? वह चुप रहा।

उसने पुकारा—बाबू !

“सुखिया, आ, इसी में ढँक लेंगे।”

“आ, सुखो।”

“छोड़ो बाबू।”

“उहूँक, आ, इधर।”

उसे नजदीक खींचने की कोशिश में उसका हाथ सुखिया की खुली छाती से छू गया। सुखिया झन्न-सी हो गई।...लेकिन यह तो बाबू है।

और बारिश की गिमझिम-रिमझिम होती रही। और रह-रहकर हवा के चलने से दिशाश्रों का मर्मर...और आसमान में बादलों का और भी घना होना,...और वक्त बीतता गया, कटता गया।...

उसने सोचा, घंटा भर बीत गया होगा।...उसने आहिस्ता से सुखिया की बांह हिलाते हुए कहा—सुखो, घंटा भर बीत गया होगा।

कहकर वह कुछ क्षण चुप रहा। फिर बोला—अरे!—और सुखिया की दोनों छाती के बीच हाथ रखते हुए बोला—ओह।—उसकी साँस बड़ी आश्चर्य की निकली। मैं तो घबड़ा गया कि...सो गई है।...

फिर बोला—तू सो गई क्या?...इस उमर की नींद ही ऐसी होती है। लेकिन खूब सोई है कि एकदम बेखबर...

फिर वह चुप पड़ा रहा। उसकी तलेथी में चमड़े की गर्मी से सुरसुराहट मालूम होने लगी।...बेचारी कैसे सो रही है।...तलेथी में चमड़े की गर्मी मालूम होने लगी।...गहरी नींद में है।...

उसने आहिस्ता से धोती से अपना सर बाहर निकाल कर देखा—चारों ओर नजर घुमाई। कहीं कुछ नहीं दीखता। अंधेरा, केवल अंधेरा, घुप्प अंधेरा और रिम-झिम, एकरस, लगातार पानी के पड़ने की आवाज....

“तू भीग रही है। बेचारी!” जैसे मन ही मन कह रहा हो। उसने सुखिया को अपने से और लिपटा लिया।...आज ..आज की रात....और कल पता नहीं...

वक्त बीतता गया। रिमझिम की एकरसता में जैसे रात अपनी सारी ख़ुबसूरती की कहानी कह रही हो। अंधेला... और रिमझिम... और वक्त बीतता गया।

तभी वह बोला—जैसे वह नींद में पड़ी उससे आहिस्ता बोल रहा हो—तुझे ठीक से ढक दूँ। ठंड लग रही होगी।

और वह उठकर बैठा। धोती उसने उठा ली। और उसे निचोड़ने लगा। तभी ख्याल आया—देह पर बूंद पड़ रही हैं।

जल्दी से धोती निचोड़ कर उसने उसे ढक दिया।... कौसी नींद है? पानी पड़ने पर भी नींद नहीं खुली।... देर से एक करवट सोई है। बाँस की ठठरों से दबकर दर्द हो जायगा देह में... अस्फुट काँपती आवाज में, पानी में भीगता वह बोल रहा था और उसने उसे हल्के घुमा दिया। नींद की बेहोशी में एक बार ऊँ करती हुई वह सीधी हो गई।...

टिहुनों की बगल में छूते हुए वह धीमी आवाज में बोला—देख तो, बाँसों पर दबे-दबे दोदरे उभड़ आये हैं।... और बोलते ही बोलते उसकी आवाज रुआँसी हो आई, काँपती, थरथराती, बाँसों में जैसे हवा चल पड़ी हो...

हवा चल रही थी। दिशाओं में सर-सर और मन-मन की आवाज रात के सन्नाटे को और भी घनीभूत कर रही थी। पानी, बाढ़ का, जैसे किसी बड़े जानवर की तरह रेंग रहा हो, साँय-साँय, साँय,।...

और समय बीतता गया।

तभी चौकती सी वह पुकार उठी—बाबू। आवाज में ताज्जुब था, जैसे कोई बुरा स्वप्न देखती हुई डरकर उठी हो। उसका शरीर सिहर रहा था, रोयें खड़े हो आए थे।

उसने अपने दोनों बगल हाथों से टटोलते हुए टूटी आवाज में पुकारा, बाबू ! आवाज सन्नाटे में गूँजी और खो गई।

“बाबू !” उसने गिरी-सी आवाज में कहा। मानो सहारा टट रहा हो, टूट गया हो, अब वह निराश्रय, निस्सहाय अकेली, बाँस की ठठुर पर बहती जा रही हो। और उसकी कमजोर पड़ रही आवाज गूँजी, थरथराई और खो गई।

एकसो बाईस

और वह चुप हो रही। बाँस की ठठुर धीरे-धीरे काँप रही थी। सुखिया जैसे इस सन्नाटे को बर्दाश्त नहीं कर सकती, जैसे यह नीरवता उसके कलेजे को मसोस रही हो। उसने रुआँसी होकर एक बार फिर जोर लगाकर पुकारा—बाबू ! आवाज में सारे हृदय की वेदना थी, गहरे फटे बाँस की सी। और एक बार फिर वह आवाज जो अब बेदम थी, टूटती-सी घुँप फँले बंधेरे सूने में हल्के काँप कर खोती गई, गड़ती गई...

और हवा दिशाओं में सायँसायँ कर रही थी और चारों ओर सन्नाटा, भारी-सी नीरवता रह-रहकर उसे घेर-घेर आ रही थी।... और उसकी छाती पर दबती जा रही थी।



कुसुमप्रकाशन

मुद्रकः
मोहन प्रेस, कदमकुआ,
पटना-६

